

युग निर्माण विद्या परिषद्

(पत्राचार पाठ्यक्रम)

युग निर्माण योजना, मथुरा

द्वारा संचालित

जीवन जीने की कला

भाग-३

१. शक्ति का भंडार हमारा मन
२. मनुष्य से महान् और कुछ नहीं
३. समय संयम तथा अर्थ संयम
४. इंद्रिय संयम और विचार संयम
५. पारिवारिकता एवं सामाजिकता
६. शालीनता, शिष्टाचार एवं प्रामाणिकता
७. परमार्थ परायणता
८. बात केवल रुख बदलने भर की है

हम अपने आपको प्यार करें, ताकि ईश्वर
से प्यार कर सकने योग्य बन सकें । हम अपने
कर्तव्यों का पालन करें, ताकि ईश्वर के निकट
बैठ सकने की पात्रता प्राप्त कर सकें । जिसने
अपने अंतःकरण को प्यार से ओतप्रोत कर लिया,
जिसके चिंतन और कर्तृत्व में प्यार बिखरा पड़ता
है, ईश्वर का प्यार उसी को मिलता है ।

-पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

एकाग्रता की साधना करें :

हलका-फूलका प्रसन्नतापूर्ण जीवन जीने वाले व्यक्ति चैन से जीवनयापन कर पाते हैं । प्रसन्नता से संतुलन, शांति, साहसिकता और उमंग का जन्म होता है । प्रसन्न व्यक्ति का शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य ठीक रहता है । मानव मन असीमित शक्ति का भंडार होता है । हमारा मन एक उपजाऊ खेत है, जिससे जो वस्तु चाहें सीधे रास्ते से पैदा कर सकते हैं । जो इसका उचित उपयोग करेगा, वह लाभ पाएगा । जैसा बोएगा वैसा काटेगा किंतु मन की यह विशेषता प्राकृतिक नहीं है । इसे तैयार करना पड़ता है । जिस प्रकार उर्वरता का गुण होने पर भी हर भूमि में खेती नहीं होती, उसे खेत का रूप देने के लिए उपाय करने पड़ते हैं । उसी प्रकार मनोभूमि भी तैयार करनी पड़ती है । तभी वह मनोवांछित फल प्रदान करता रहता है । मन का निर्माण है—उसका परिमार्जन और उसकी उर्वरता है—एकाग्रता । मन को एकाग्र स्थिति में लाए बिना उसकी शक्तियों का लाभ नहीं उठाया जा सकता । जीवन में किसी भी सफलता का समावेश करने के लिए मानसिक शक्तियों का अपरिहार्य महत्त्व है । प्राप्ति, उपलब्धियों और सफलताओं का आधार है—मनुष्य की क्रियाशीलता और इस क्रियाशीलता का सारा संचालन मन द्वारा ही होता है । जितना अधिक मानसिक शक्तियों का सहयोग मिलता जाएगा क्रियाशीलता उतनी ही तीव्र, प्रखर होती जाएगी । मन की शक्ति एकाग्रता में सन्निहित है । जीवन विकास के लिए एकाग्रता की साधना करते ही रहना चाहिए । मनुष्य का एकाग्र मन उसकी उन्नति का एक मात्र आधार माना गया है । जो मनुष्य अपने मन को एकाग्र कर लेता है, वह किसी भी कार्य में उसकी सारी शक्तियों का एक

साथ प्रयोग कर सकता है । जिस प्रकार एक आतिशी शीशा सूर्य की किरणों को एकाग्र कर किसी को भी जला देने की शक्ति संपादित कर लेता है , उसी प्रकार एकाग्र मन अपनी एकत्र शक्तियों द्वारा कोई भी प्रयोजन सिद्ध कर सकता है ।

आज तक संसार में जितने व्यक्ति भी उन्नति के शिखर पर चढ़ने में सफल हो चुके हैं, उनमें से कोई भी ऐसा नहीं है, जो सहसा ही उस स्थिति में पहुँच गया हो । उन्नति कोई आकस्मिक घटना नहीं है, वह क्रमिक विकास और प्रगति की अविरल प्रक्रिया का परिणाम है । जिसको एकाग्रतापूर्वक ही पूरा किया जा सकता है । चंचल मन और बिखरी वृत्तियों द्वारा उसका पूरा कर सकना संभव नहीं । मानसिक चंचलता मनुष्य की सारी क्षमताएँ बिखेर कर उन्हें निर्बल एवं निरर्थक बना देती है ।

मन को किसी एक निश्चित लक्ष्य पर केंद्रित करना ही उसकी एकाग्रता है । सूर्य की किरणों में बड़ी भयानक आग होती है किंतु सारे संसार पर फैली होकर वे किसी भी चीज को गरम तो कर देती हैं, पर जला नहीं पातीं । इसका कारण यही है कि वे सूर्य की अग्नि का थोड़ा-थोड़ा अंश लेकर अलग-अलग छितरी रहती है, किंतु जब वे किसी उपाय द्वारा एकत्र करके प्रयोग की जाती हैं तो तुरंत ही भयानक अग्नि का रूप धारण कर लेती हैं । वैज्ञानिकों का कथन है कि यदि किसी उपाय से सूर्य की बिखरी किरणों को किसी साधन द्वारा एक स्थान पर एकत्र कर उनको किसी दिशा में संधान कर दिया जाए तो वे उस दिशा की सारी वस्तुओं को खाक बना सकती हैं । किन्हीं शक्तियों का एकत्रीकरण ही उनकी एकाग्रता है जिससे कोई भी प्रयोजन सिद्ध किया जा सकता है ।

मन को साधना असंभव नहीं :

यह बात सही है कि मन स्वभावतः बड़ा ही चंचल और प्रयत्नशील होता है । कठिनता से वशीभूत होता है, तथापि

इसका एकत्र करना असंभव कदापि नहीं । कतिपय उपायों से इसे वश में करके एकाग्र बनाया जा सकता है । इसका सरल-सा उपाय यह है कि इसको बहुमुखी न रखकर एकमुखी बनाया जाए । मनुष्य अपने मन को संसार की न जाने कितनी छोटी-छोटी बातों में उलझाए रहता है । उनमें से अधिकांश तो ऐसी ही होती हैं जिनसे न तो कोई प्रयोजन होता है और उनका जीवन के लिए उपयोग । मनुष्य को चाहिए कि वह संसार की तमाम निरर्थक और निरुपयोगी बातों को छोड़कर अपने मन को किसी एक निश्चित लक्ष्य, प्रयोजन अथवा ध्येय में लगाए । मन एक ही होता है । वह किसी एक ही प्रयोजन में पूरी तरह लगाया जा सकता है । वह एक बार में एक ही काम कर सकता है । जिस एक काम पर मन को संपूर्ण रूप से नियोजित रखा जाएगा, वह कार्य निश्चित रूप से सफल होगा, इसमें जरा भी संदेह नहीं ।

निरर्थक उत्सुक-वृत्ति से बचने के लिए मनुष्य को चाहिए वह अपनी विचारधारा को विशृंखलित न होने दे । सारी विचारधारा अपने ध्येय के चिंतन में ही लगानी चाहिए, जो लोग अपने ध्येय से अलग अपनी विचारधारा को बहने देते हैं, उनका मन अस्त-व्यस्त और चंचल ही बना रहता है । वह छिन्न-भिन्न होकर यहाँ-वहाँ भटकता रहता है जिससे उसकी वह शक्ति विकसित नहीं हो पाती जो जीवन की सफलता के लिए आवश्यक होती है ।

विचारधारा का प्रकार संगति और साहित्य से निर्मित होता है । आदमी जिस तरह के लोगों के साथ रहता है और जिस प्रकार का साहित्य पढ़ता है, उसकी विचारधारा उसी तरह की हो जाती है । बातून, वाचाल और गप्पी लोगों का संग करने वाले भी बहुधा उसी प्रकार के हो जाते हैं । जासूसी कहानियाँ, उपन्यास अथवा कामोत्तेजक साहित्य पढ़ने वाले लोगों का मन एकाग्र नहीं हो पाता । बहुत से लोग अखबारों में

छपने वाले सनसनीखेज और विचित्र समाचारों को पढ़ने में ही रुचि लेते हैं । ऐसे लोग भी अपना मन एकाग्र करने में सफल नहीं हो सकते । मन की एकाग्रता के लिए गंभीर, शालीन और उच्चकोटि के लोगों का ही साथ करना चाहिए और वैसा ही साहित्य पढ़ना चाहिए । सरस्ता साहित्य और सस्ती संगति मनुष्य को स्वभावतः चंचल और हलका बना देती है । जो विचार अथवा कार्य मन में उद्वेग या हलचल पैदा करने वाले होते हैं उनसे एकाग्रता के उद्देश्य को हानि पहुँचती है ।

विचारों की शक्ति महान् :

मन की एकाग्रता का दूसरा अर्थ है—विचारों की एकाग्रता । विचार व्यर्थ की चीज नहीं है । बहुत से लोग इस बात की चिंता नहीं करते कि उनके मन मस्तिष्क में किस प्रकार के विचार आते—जाते रहते हैं । गंदे और निरुपयोगी विचार आने पर भी वे उनमें तृण की तरह बहते रहते हैं । वे नहीं समझ पाते हैं कि इससे उन्हें क्या और कितनी हानि होती है । विचार एक शक्ति है, अमोघ शक्ति । वे मनुष्य के संपूर्ण जीवन पर अपना स्थाई प्रभाव डालते हैं । अपने अनुरूप उसे हानि—लाभ की ओर ले जाया करते हैं ।

जिनका मन—मस्तिष्क उत्साह और आशापूर्ण विचारधारा से परिचालित रहता है, जिनके विचार और आदर्श ऊँचे होते हैं, जो सदैव आगे बढ़ने, ऊँचे उठने और जीवन में कोई बड़ा काम करने की बात ही सोचते रहते हैं, निश्चय ही वे एक दिन अपने इस उद्देश्य में सफल हो जाते हैं । जिस प्रकार निरर्थक, निरुद्देश्य और विविधतापूर्ण विचार मनुष्य को चंचल और उसके मन की शक्तियों को छिन्न—भिन्न कर देते हैं, उसी प्रकार उसके ऊँचे उद्देश्य पूर्ण और आदर्शवादी विचार उसमें गंभीरता और एकाग्रता उत्पन्न कर देते हैं । विद्वान् मनोवेत्ता सॉलोमन ने एक स्थान पर लिखा है—मनुष्य चुपचाप मन में जैसे विचार लिए फिरता है, वैसा ही वह बन जाता है । परंतु बड़ी—

बड़ी बातें करते रहने से कुछ नहीं होता । हमारे कथन में हमारे संकल्प का सत्य होना चाहिए । जिन विचारों में कोरी सच्चाई दृढ़ता और आस्था होगी, उन्हीं विचारों के पीछे सृजन की शक्ति निवास करती है ।

विचारशील बनिए :

जीवन में सफलता पाने के लिए मनुष्य का चिंतक और विचारशील होना नितांत आवश्यक है किंतु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि चाहे जिस तरह के विचार आ जाएँ । उनका ही चिंतन-मनन करते रहा जाए । अपने मन और मस्तिष्क में आने वाले विचारों को संपादित करते रहना चाहिए । मनुष्य के मस्तिष्क में नित्य ही हजारों विचार आते रहते हैं, किंतु वे सब के सब ही उपयोगी और सार्थक हों यह आवश्यक नहीं । मस्तिष्क में प्रतिक्षण आने वाले विचारों को देखते-परखते रहना चाहिए और जो विचार अपने उद्देश्य और प्रयोजन के लिए आवश्यक और उपयोगी दीखें उन्हें तो रहने दिया जाए और बाकी के सारे बेकार विचारों को निकाल कर फेंक देना चाहिए ।

यद्यपि विचारों को रोकने और निकाल फेंकने में थोड़ी कठिनाई जरूर होती है तथापि थोड़े से अभ्यास द्वारा यह सरल बनाया जा सकता है । कुछ समय सावधान तथा सक्रिय रहने के बाद मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा बन जाएगा कि उसकी चिंतनधारा में अनावश्यक विचार प्रवेश ही न करने पाएँगे । इस प्रकार जब मन में शुद्ध तथा सुंदर विचार दृढ़ होने लगेंगे तो वे स्वयं भी अपने से विरोधी विचारों को अपने क्षेत्र में नहीं ठहरने देंगे । विचार विचारों को स्वयं ही बुलाते और भगाते रहते हैं ।

मन की एकाग्रता की उपलब्धि होते ही मनुष्य के अंदर सोई वे सारी शक्तियाँ जाग उठेंगी जिनके बल पर वह असंभव दीखने वाले कामों को भी संभव कर सकता है । बिखरे मन और विशृंखल शक्ति से संसार में कोई भी बड़ा काम नहीं किया जा

सकता । अपनी शक्तियों का नियोजित उपयोग ही वह उपाय है, जिससे किसी भी कार्य की सिद्धि प्राप्त की जा सकती है । किंतु इस उपाय का प्रयोग एकमात्र एकाग्र मन पर ही निर्भर है । अस्तु, मनुष्य को अभ्यास अथवा साधना द्वारा मानसिक एकाग्रता प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए ।

मन को प्रशिक्षित करें :

बादलों का पानी जमीन पर गिरता है । जमीन से ढलान पर बहने वाली नदियों में जाता है और नदियाँ समुद्र के गहरे गर्त में जा गिरती हैं । पतन का यही स्वाभाविक क्रम है । मन को यदि रोका न जाए तो वह भी इसी दिशा में स्वभावतः चल पड़ेगा । इसलिए वर्षा के पानी को समुद्र के गर्त से बचाकर किसी उपयोगी कार्य में लगाना या दिशा विशेष में बहाना हो तो उस पर भी रोकथाम लगानी होगी । पशुओं को खूँटे से बाँध कर ही निर्धारित कामों में लगाया जा सकता है अन्यथा वे छुट्टल छोड़ देने पर जिस-तिस का खेत उजाड़ेंगे, निरर्थक घूमेंगे और आपस में लड़ेंगे । इसलिए उन्हें अनुशासन में रखने के लिए मर्यादाओं का घेरा डालना और बंधन बाँधना पड़ेगा । मजबूत और ऊँचा बनाकर ही नदियों से सिंचाई के काम की नहरें निकाली जाती हैं ।

मन को चिंतन पक्ष में प्रशिक्षित करने के लिए उसे संयम के अनुबंध अपनाने के लिए प्रशिक्षित करना पड़ेगा । इन्द्रिय संयम, अर्थ संयम, समय संयम और विचार संयम सीख लें तो समझना चाहिए कि अबोध मन वयस्क हो गया । मानवीय अभिलाषाओं को, माँगों को कोई पूरा नहीं कर सकता । तृष्णा की खाई इतनी गहरी है कि उसके लिए अनेक जन्मों का परिश्रम खपाया जाए तो भी उसको पाटा नहीं जा सकता । अंततः अब या फिर कभी उन विडंबनाओं में से कल्पनाओं को उबारना पड़ेगा । तो उसके लिए चिंतन पर अकुश लगाने, इच्छाओं पर अकुश लगाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग मिलेगा

नहीं ।

समय का सुनियोजन करें :

चिंतन के उपरांत मनुष्य की बड़ी शक्ति है—प्रयास, श्रम एवं समय का सुनियोजन । जीवन का तात्पर्य वर्षों की लंबाई नहीं वरन् यह है कि उसके समय घटकों का किस प्रकार किस निमित्त उपयोग किया गया । अनेक व्यक्ति थोड़े दिन जीते हैं, किंतु अभिमन्यु और भगतसिंह की तरह, विवेकानंद और रामतीर्थ की तरह अल्प आयु में ही अपने को, अपने समाज को कृत-कृत्य कर जाते हैं। कितने ही ऐसे होते हैं जो परम अवधि सौ वर्ष तक जी लेते हैं, पर रहते दूसरों पर भार बनकर ही हैं। ऐसे दीर्घ जीवन से क्या अपना और क्या दूसरों का लाभ ? जमाखोरों का जीवन मधुमक्खियों के समान ही रहता है। सारा दिन श्रम वह करती है और उस संचय का लाभ कोई दूसरा उठाते हैं। मन को समझाया जाना चाहिए कि मोहग्रस्त होकर सारा समय गँवाने से कोई लाभ नहीं है। जिस प्रकार एकाकी स्वार्थ चिंतन में अपनी बुद्धि लगाई जाती है, उसी प्रकार यह भी देखा जाना चाहिए कि जीवन संपदा का उपयोग मानवोचित रीति से हुआ या नहीं ? मनुष्य को अतिरिक्त बुद्धिमत्ता, अतिरिक्त क्षमता और प्रतिभाओं से भरा-पूरा जीवन दिया गया है। वह शरीर यात्रा भर के लिए खर्च नहीं हो जाना चाहिए, जिस प्रकार कीड़ों-मकोड़ों का होता है। वैभव बढ़ाकर ठाट-बाट रोपने में हमें भी मिथ्या अभिमान के अतिरिक्त और क्या मिल पाता है। उपयोग की एक सीमा है। उसके बाद जो बचता है, उसे दूसरे मुफ्तखोर ही हड़प जाते और हराम की कमाई को फुलझड़ी की तरह जलाते हैं। हो सकता है यह मुफ्तखोर तथाकथित कुटुंबी, संबंधी ही क्यों न हों?

मन खोलते समय सावधान रहिए :

प्रायः देखा गया है कि हम मन की बात किसी के सामने सहज रूप में रख देते हैं। यह आदत प्रायः हानिकर होती है।

कभी तो आपकी बात से आपका उद्धत अहंकार अभिव्यक्त होने लगता है तो कभी आत्महीनता। दोनों ही स्थितियाँ हानिकर हैं। देखा गया है कि लोग अपनी बीमारी, गरीबी, असफलता, दुर्भाग्य, तिरस्कार, हानि, विपत्ति आदि के विवरण सविस्तार दूसरों को सुनाने में बड़ी दिलचस्पी लेते हैं और कभी कभी उसमें नमक-मिर्च मिलाकर बढ़ा-चढ़ा भी देते हैं। ऐसे लोग यह आशा करते हैं कि सुनने वाला अपने प्रति सहानुभूति प्रकट करेगा, दुःखी होगा, दया करेगा और दुखिया समझकर उनके लिए सहायता या स्नेह के भाव रखेगा, परंतु यह आशा आमतौर से मिथ्या साबित होती है। इस दुनिया में ऐसा कायदा है कि जो सुखी, स्वस्थ, समृद्ध, संपन्न, सफल, सौभाग्यशाली तथा समर्थ होते हैं उन्हें ही दूसरों की सहानुभूति और सद्भावना प्राप्त होती है। सब कोई पहले अपने स्वार्थ को प्रधानता देते हैं पीछे दूसरे की ओर देखते हैं। अभागे की राम कहानी सुनकर सुनने वाला सोचता है, इस पर दैव का कोप है, पापों का फल भोग रहा है, आलसी या अयोग्य है, ऐसे आदमी से दूर रहना ही भला। यदि इसके साथ रहेंगे तो किसी न किसी प्रकार खीजना पड़ेगा, हानि उठानी पड़ेगी। ऐसे मित्रों को रखने से समाज में मेरी प्रतिष्ठा घटेगी। इन सब बातों को सोचता हुआ, सुनने वाला उस वक्त शिष्टाचार की तरह चार शब्द भले ही कह दे या टूटी-फूटी सहायता का टुकड़ा भले फेंक दे पर मन ही मन वह खिंचने लगता है, रूखापन और उदासीनता प्रकट करने लगता है। इस प्रकार वह आशा मिथ्या साबित होती है जिससे प्रेरित होकर आदमी अपने कष्टों को दूसरों को सुनाता है।

क्या किया जाए ? :

आप जो भी कार्य करना प्रारंभ करें उस पर मन को एकाग्र करने की आदत डालिए। आधे मन से प्रारंभ किया गया कार्य आधा-अधूरा ही रह जाता है। मन की एकाग्रता से आपकी वाणी में चुंबकत्व उत्पन्न हो जाएगा और अपने समक्ष उपस्थित

व्यक्ति से जब आप कोई बात कहेंगे तो उसका प्रभाव अभूतपूर्व होगा। अपनी असफलताओं और न्यूनताओं को समझें, उन पर विचार भी करें, पर उनका रोना सबके सामने न रोएँ। इस संबंध में बहुत सावधानी बरतें। स्वयं को असफल, अभागा घोषित करने का स्पष्ट परिणाम है अपनी प्रतिष्ठा खो देना। इतनी फुरसत किसी को भी नहीं है कि आपका रोना सुनकर स्वयं को दुःखी बनाए। प्रत्येक की अपनी कठिनाइयाँ होती हैं, आपकी मुसीबतें सुनकर अपना मन भारी करना किसी को नहीं भाएगा।

अपनी असफलताओं का बार-बार स्मरण करने या वर्णन करने से अपना हौसला टूटता है और मन पर अयोग्यता की छाप बैठती है। यदि एक आदमी को बार-बार पागल कहा जाए तो वह कुछ दिन में सचमुच ही आधा पागल बन जाएगा। कारण यह है कि सुप्त मन आदेशों को ग्रहण करके उन्हें अपने अंदर धारण करता है और फिर जीवन क्रम को उसी साँचे में ढालने लगता है। यदि मन में यह बात जमाई जाए कि हम अभागे हैं, दीन दुःखी हैं तो अंतर्मन उसी सूचना को स्वीकार कर लेगा और जीवन क्रम का निर्माण इस प्रकार करेगा कि सचमुच ही जीवन दुर्भाग्यों से भर जाएगा। यदि आप सौभाग्यशाली बनना चाहते हैं, सुनहरे भविष्य की आशा करते हैं तो स्मरण रखिए कि अपने जीवन के प्रेरक, सफल, उल्लासपूर्ण प्रसंगों को ही दूसरों के सामने व्यक्त करें, पर सावधानी बरतें, कहीं आपके वर्णन में से आपका अहंकार न झाँकने लगे।

जो व्यक्ति कहता है कि 'मैं संयम नहीं कर सकता' वह चरित्र की छोटी-मोटी किसी एक भी परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सकेगा। संयम ही चरित्र का मुख्य आधार है।

आस्तिकता क्या है ? :

मन को प्रशिक्षित करने एवं किसी के समक्ष अपना मन खोलते समय बरती जाने वाली सावधानियों के संबंध में अध्ययन किया गया। अब हम कुछ ऐसे दार्शनिक पारिभाषिक शब्दों के संबंध में विचार करेंगे जिनके संबंध में अनेकानेक भ्रांतियाँ फैली हैं। आधुनिक लक्ष्यहीन शिक्षा पद्धति के फलस्वरूप एक ओर नई पीढ़ी नास्तिक होती जा रही है तो दूसरी ओर अध्यात्म एवं धर्म के सही अर्थ को न समझ पाने के कारण भ्रम की स्थिति से कोई उबर नहीं पा रहा है। सफल जीवन जीने के लिए आस्तिकता, आध्यात्मिकता और धार्मिकता की सही व्याख्या समझनी आवश्यक है।

आस्तिकता का अर्थ है ईश्वर में विश्वास। ईश्वर एक सर्वव्यापी सत्ता है जो सारे विश्व का नियंत्रण करती है। उसी के नियम, अनुशासन में बँधकर ही विश्व के समस्त क्रिया-कलाप संचालित होते हैं। उसका न्याय अटल एवं निर्विवाद है। वह आदर्शवादिता एवं उत्कृष्टता का समुच्चय है। उस जगन्नियंता, न्यायकारी, शाश्वत, नेक एवं आनंदमय सत्ता में विश्वास ही आस्तिकता है। उसे ईश्वर, खुदा अथवा गॉड किसी भी नाम से पुकार सकते हैं। जिस प्रकार जल, पानी, वाटर कहने से भाषागत नामों की भिन्नता होते हुए भी उसका स्वरूप एवं प्रकृति में परिवर्तन नहीं होता। उसी प्रकार परमात्मा का कार्य सार्वभौमिक, शाश्वत एवं निर्विवाद है। वह न्याय का पक्षधर, कर्मफल दाता इतना समर्थ है कि उसकी दृष्टि से कोई बच नहीं सकता है।

आस्तिकता का अंकुश :

ईश्वर सर्वव्यापी है, सर्वज्ञ है, सबको देखता है। यह विश्वास ही आस्तिकता है। आस्तिकता हमें पापकर्म में प्रवृत्त होने से बचाती है। जैसा बोएँगे, वैसा ही काटेंगे। ईश्वर-विश्वासी यह समझता है कि ईश्वर की न्यायप्रियता एवं निष्पक्षता अक्षुण्ण है, अबाध है। उसे कोई धोखा नहीं दे सकता है। आस्तिक केवल ईश्वर से डरता है। जो ईश्वर से डरता है उसे संसार में किसी और से डरने की आवश्यकता नहीं होती है। मनुष्य सांसारिक न्यायालयों को झुठला सकता है, अपराधी कानूनी दाँव पेचों से अपना बचाव कर सकता है, किंतु ईश्वर के न्याय से नहीं। यही विश्वास आस्तिक व्यक्ति को सत्कर्म करने के लिए प्रेरित करता है। **आस्तिकता एक प्रकार का अंकुश है जो व्यक्ति को ईमानदार बनने के लिए, श्रेष्ठ जीवन जीने के लिए बाध्य करता है।**

आस्तिकता उत्कृष्टता से जोड़ती है :

मत्था टेक कर, दीपक जलाकर अथवा प्रसाद चढ़ाकर मनोकामना पूर्ण करने वाले किसी ईश्वर के प्रति विश्वास को आस्तिकता नहीं कहते हैं। उसका अर्थ है सत्प्रवृत्तियों के समुच्चय को सधन आस्था, अटूट निष्ठा एवं गहनतम श्रद्धा के साथ अपना लेना। ईश्वर व्यक्ति विशेष की भाँति शरीरधारी नहीं है जिसे उपहार-मनुहार द्वारा अपनी ओर आकर्षित किया जा सके और मनमाफिक अपनी इच्छानुसार कार्य कराए जा सकें। आस्तिकता का अर्थ है उत्कृष्टता के साथ जुड़ने और सत्परिणामों, सद्गति एवं सर्वतोमुखी प्रगति पर विश्वास करना।

आस्तिक धैर्यवान् एवं अटूट निष्ठावान् :

आस्तिकता अपनाने पर सत्परिणाम सुनिश्चित होते हैं किंतु कभी-कभी उसकी उपलब्धि में देर-सबेर होती है। ऐसे अवसरों पर ईश्वर-विश्वासी विचलित नहीं होते हैं। अंग्रेजी

[जीवन जीने की कला भाग-३/१३]

कवि जॉन मिल्टन की भाँति धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करते हैं और आस्था-विश्वास अखंडित रखते हैं। दिव्य सत्ता के साथ जितनी सघनता से जुड़ेंगे और ईश्वरीय अनुशासन एवं अनुबंधों का जितनी ईमानदारी, सच्चाई और गहराई के साथ पालन करेंगे, उतना ही उसका कल्याण होगा। आस्तिक न तो याचना करता है, न ही पात्रता से अधिक पाने की अपेक्षा करता है।

आध्यात्मिकता का अर्थ :

आध्यात्मिकता का अर्थ है आत्मावलंबन। आध्यात्मिक होने का अर्थ है स्वयं को पहचानना अर्थात् आत्मबोध। जिन्हें इसका ज्ञान नहीं होता है वह अपनी आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए, सुख की खोज में कस्तूरी मृग की भाँति बाहर-बाहर भटकते रहते हैं। अध्यात्मवादी किसी अधिकारी, नेता अथवा ईश्वर की कृपा की बैसाखी के सहारे नहीं चलता है। असफल होने पर वह अपने भाग्य अथवा परिस्थितियों को दोष नहीं देता है। परीक्षाएँ जिन दिनों चल रही हों, तब देखिए किसी विद्यार्थी के मस्तक पर चंदन लगा होगा, तो किसी के देवी का भभूत अथवा हनुमान प्रतिमा का सिंदूर। वे सब परीक्षा-केंद्र पर आने से पहले अपने-अपने पारिवारिक इष्ट से प्रार्थना करके आते हैं कि हे प्रभो, हे देवी माता, हे बजरंगबली इतनी कृपा करना कि मैं परीक्षा में पास हो जाऊँ। क्या यही है अध्यात्म ? क्या यही है आध्यात्मिकता ? ईश्वर चापलूसी पसंद नहीं होता है, जो आपकी खुशामद से प्रसन्न हो जाए। वह रिश्वतखोर नहीं है जो प्रसाद-मिष्ठान्न के लालच में आपको बिना परिश्रम-पुरुषार्थ के अनपेक्षित फल दे दे। अध्यात्मवादी जानता है कि परिस्थितियाँ कहीं बाहर से नहीं आती हैं। हमारी मनःस्थिति ही परिस्थिति का निर्माण करती है। हम हर समय आत्महीनता, हताशा एवं अशांति का नारकीय जीवन क्यों जिँ ? स्वयं को पहचानें। अपनी कमियों का निरीक्षण करें। अपनी महानता भी समझें

और फिर आत्मशोधन एवं आत्मपरिष्कार की क्रिया प्रारंभ कर दें स्वर्ग और नरक तो हमारे भीतर ही है। अध्यात्मवादी अपनी पावता का विकास करते हैं। आत्मपरिष्कार करते हैं। कपड़ा रंगने से पहले धोया जाता है। आभूषण बनाने के लिए सोना गलाया जाता है। आत्मपरिष्कार से पावता का विकास होता है। पावता के अनुसार ईश्वरीय अनुदान अवश्यमेव मिलते हैं। यह ईश्वरीय व्यवस्था है। इसमें कहीं कोई भूल संभव नहीं है। अध्यात्म देखना हो तो मीरा का अध्यात्म देखें, जिसके प्याले का विष भी अमृत बन गया था। अध्यात्म था रैदास का जिसकी कठौती में स्वयं गंगा उपस्थित हो गई थी। अध्यात्म शबरी का देखें जिसकी कुटी में नंगे पाँव पहुँचकर श्रीराम ने झूठे बेर खाए थे। आध्यात्मिकता आ जाए तो सांसारिक कह-कठिनाइयाँ डिगाती नहीं हैं, प्रत्येक विघ्न-अवरोध व्यक्ति के गुणों में और निखार लाते प्रतीत होते हैं और व्यक्ति सुख-सुविधाओं के लिए द्वार-द्वार अथवा मंदिर-मस्जिद में गिड़गिड़ाता नहीं फिरता है, वह आत्म-विश्वासी एवं आत्मावलंबी बन जाता है।

धर्म और संप्रदाय :

धर्म के अर्थ का जितना अनर्थ आज देखने को मिलता है उतना पहले कभी नहीं। धर्म और संप्रदाय को पर्याय की भाँति प्रयोग किया जाने लगा है। धर्म जीवन-यापन की एक पद्धति है, जिसमें मानवीय गरिमा को ध्यान में रखते हुए इस प्रकार जीवन जिया जाता है, जिसके प्रकाश में जनसाधारण को श्रेष्ठता की दिशा में चलने की प्रेरणा मिले। संप्रदाय समय और परिस्थितियों के अनुरूप गतिविधियाँ अपनाने की ऐसी विधि-व्यवस्था है, जो अनेक बार बदली है और समय-समय पर बदली जाती रहेगी। वह अस्थिर इसलिए है कि समय के प्रवाह में वह घिसती-टूटती रहती है। इसलिए नाव की तरह उसकी बार-बार मरम्मत करनी पड़ती है। धर्म शाश्वत है। मानवीय गरिमा के अनुरूप

[जीवन जीने की कला भाग-३/१५]

अपनाई जाने वाली धर्म-धारणा ऐसी है जिसे कि सार्वभौम एवं अपरिवर्तनीय कहा जा सकता है, जबकि संप्रदायों में परिवर्तन, परिशोधन का उपक्रम सदा से चला है और सदा चलता रहेगा।

धर्म को कर्त्तव्य का पर्याय माना जाना ही उचित है। जो कर्त्तव्य को समझता है, उसका निष्ठापूर्वक परिपालन करता है, वही धार्मिक है। आज स्थिति विचित्र-सी हो रही है। रामायण, गुरु ग्रंथसाहब, कुरानशरीफ या बाइबिल पढ़ने वाले, माला जपने, कीर्तन करने, नमाज अदा करने वाले को धार्मिक समझा जाने लगा है, चाहे उसका आचरण कितना ही दूषित क्यों न हो। चाहे उसका हृदय संवेदना से कितना ही शून्य क्यों न है, जिसे उचित-अनुचित का भेद करना नहीं आता, जो नीति अपनाने और अनीति से बचने के लिए संकल्पित एवं प्रयासरत नहीं है, उसे अधर्मी ही कहा जाएगा, भले ही वह धर्माध्यक्ष अथवा धर्मोपदेशक का आवरण ही क्यों न ओढ़े हो। धर्म, वह लक्ष्मण रेखा है जिसमें मात्र अपने कर्त्तव्यों का ध्यान रखा जाता है और यह भुला दिया जाता है कि उसका बदला मिलेगा अथवा नहीं।

धार्मिकता का प्रयोजन :

धर्म सार्वभौमिक आचरण का निर्धारण है। धार्मिकता का अर्थ हुआ कर्त्तव्य परायणता। इसे आत्मानुशासन भी कहा जा सकता है। जिसमें सच्ची धार्मिकता होगी उसका आचरण नैतिक होगा, जीवन उत्कृष्ट होगा, चरित्र-चिंतन समाज के सभी वर्गों के लिए कल्याणकारी होगा। धर्म शाश्वत है। धर्म संस्थापकों में से प्रायः सभी सुधारवादी हुए हैं, उन्होंने पुराने प्रचलनों को बदला और उनके स्थान पर नई परंपराओं की स्थापना की है। सुधारवाद अपनाने के कारण ही ईसा को पुराने मतावलंबी यहूदियों ने मृत्युदंड दिया। उन पर दोष यही मढ़ा कि वे ईश्वर की स्थापनाओं के विरुद्ध बगावत करते थे। लगभग ऐसे ही आरोप उन सभी पर लगाए गए जिन्होंने नए धर्म संप्रदायों का

प्रारंभ किया था और अपनी बात को ईश्वर का संदेश कहा था।

विचारणीय है कि ईश्वर को ऐसी क्या पड़ी कि एक समय में एक प्रकार की मान्यता चलाए और कुछ दिन बाद ही उसमें परिवर्तन करने के लिए नए सुधारक भेजे ? वास्तविकता यह है कि धर्म अनादि और अनंत है। मनुष्य के लिए उसमें ऐसे निर्धारणों का समावेश है, जिनके आधार पर वह सज्जन, सच्चरित्र एवं दूसरों का सहायक, सहयोगी बनकर रहे। उसमें प्रेम और करुणा को, संयम और सेवा को प्रश्रय दिया गया है। सभी धर्मों में इन महान् सिद्धांतों का समावेश है, इसलिए उन्हें ही धर्म की आत्मा माना जाना चाहिए। उनमें छल, दंभ, निष्ठुरता, क्रूरता एवं अपराधी दुष्प्रवृत्तियों के लिए कहीं कोई गुंजाइश नहीं है। संप्रदायों के बीच ऐसा दुराग्रह पाया जाता है कि हमारी मान्यताएँ एवं प्रथा-परंपराएँ ही सही हैं। इसके अतिरिक्त और सब झूठे हैं। अपनी पुस्तकों में जो कुछ कहा गया है, वही ईश्वर का वचन है और जिसकी मान्यता इससे भिन्न है, वे सभी नास्तिक हैं और इस योग्य हैं कि उन्हें प्रताड़ित किया जाए, धरती पर से मिटा दिया जाए। ऐसे प्रतिपादन ईश्वरकृत नहीं हो सकते। वे संप्रदायों के दुराग्रह हैं। इसी के कारण खून-खराबा होता है और घृणा से द्वेष की, पराएपन की भावना फैलती है।

प्रथा-परंपराएँ बनती हैं। सांप्रदायिक अनुबंधों में अंतर पड़ता रहा है, पर मानव धर्म का मूलभूत आधार सदा एक रहा है। उसमें अंतर आने की कोई गुंजाइश नहीं है। मानवीय गरिमा के अनुरूप श्रेष्ठ आचरण ही धर्म है और उसके संबंध में सार्वजनीन मान्यता एक जैसी है। उसी सार तत्व को हमें अपनाना चाहिए। सर्वव्यापी, सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ परमात्मा को एक रूप में ही मानना अच्छी बात है, अब इसे कोई एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति कहकर स्मरण रखे या लाइलाहाइल्लिल्लाह कहकर याद रखें, इसमें बुराई कहाँ है ? ईश्वरीय प्रकाश जागृत आत्माओं

[जीवन जीने की कला भाग-३ / १७]

में प्रस्फुटित होता है, वह समयानुसार मार्ग-दर्शन देते हैं, तथ्य स्मरणीय है, इसे चाहे तब-तब प्रभु धरि मनुज शरीर रूप में सोचें या मोहम्मद रसूलिल्लाह के रूप में समझें। उस उद्देश्य युग पुरुषों के मार्गदर्शन का लाभ उठाना है तो हानि है ? किसी के सम्मान के लिए कोई टोप उतार कर उधाड़ दे तो क्या या सिर पर रुमाल ही डालकर सिर ढँक तो क्या, भाव तो सम्मान करने का है। लौकिक बाह्य क्रिया-उस भावनात्मक एकता के आगे अधिक महत्त्व नहीं रखते **क्या किया जाए ? :**

इसलिए धार्मिक बनने का प्रयास कीजिए। अधार्मिक अथवा अधर्मी, जो पापाचारी का पर्याय है, मत बनिए। बाह्याङ्ग के भेद-विभेद में मत उलझिए। आप हिंदू हैं, मुसलमान, ईसाई अथवा और कुछ भी हैं, यह समझ लीजिए कि कर्त्तव्यपा से जी चुराने वाले अथवा दुराचारी की दुआ, मंत्र-जप, नम्र आदि विधि-विधान कोई उसके कृत पापों के परिणाम भुग से उसे बचा नहीं सकेंगे। धर्म को कर्त्तव्यपालन के विशाल में समझिए। आपके कंधों पर ईश्वर ने बहुत सी जिम्मेदारी लादी हैं जिनके निर्वाह करने में आपको बहुत से अनुशासनों नैतिक नियमों का पालन करना होगा। अपने शरीर के प्र परिवार के प्रति जो कर्त्तव्य हैं, उनका पालन करें और आस्ति आध्यात्मिक और धार्मिक होने का गौरव प्राप्त करें।

चिंता ओर परेशानी की भट्ठी में जलते हुए मानव के लिए शांति कहाँ ? पर मैं कहूँगी कि शांति है । शांति मस्ती में, खुशमिजाजी में, परिहासपूर्ण स्वभाव में, आनंदी और उत्साही मुख मुद्रा में है ।
- वंदनीया माता जी

संपदा को व्यर्थ न गँवाएँ :

संपूर्ण संसार का नियंत्रण करने वाली न्यायकारी शक्ति में विश्वास ही आस्तिकता है, स्वयं के वास्तविक स्वरूप का बोध होना आध्यात्मिकता है तथा धार्मिकता का अर्थ है—कर्त्तव्य परायणता। यदि हम आस्तिक हैं तो समाजविरुद्ध कार्य करने से डरेंगे। यदि हम आध्यात्मिक हैं तो औरों की पीड़ा-वेदना को अपनी सी समझेंगे और संवेदना से परिपूरित होंगे। यदि हम धार्मिक हैं तो कर्त्तव्य पालन करने से कभी भी पीछे नहीं रहेंगे।

समय ही जीवन और श्रम ही वैभव है। कौन कितने दिन जिया, इसका लेखा जोखा जन्म दिन से लेकर मरणपर्यंत दिन गिनकर नहीं वरन् इस आधार पर लगाया जाना चाहिए कि किसने अपने समय का उपयोग महत्त्वपूर्ण प्रयोजनों के लिए किया। समझ लें कि समय के असंयमी ही अल्पजीवी कहलाते हैं। भले ही उनकी आयु कुछ भी हो। समय ईश्वर प्रदत्त संपदा है। उसे श्रम में मनोयोगपूर्वक नियोजित करके विभिन्न प्रकार की विभूतियाँ अर्जित की जाती हैं। जो समय गँवाता है, उसे जीवन गँवाने वाला कहा जाता है। प्रायः आधा समय कुचक्रों की उलझन में और उतना ही समय आलस्य प्रमाद में लगाने वाले को लंबी आयु तक जीने का क्या संतोष आनंद मिला? समय का मूल्य उनींदी अवस्था में तो जान नहीं पाते, किंतु विदाई के दिन आते ही आँखें खुलती हैं। तब सोचते हैं कि उन्होंने बहुमूल्य अवसर निरर्थक कार्यों में ही गँवाया अर्थात् काल का ग्रास देने वाला अंधकार ही कमाया। काल बोध के आधार पर जीवन सुव्यवस्थित बनाकर चलने वाला ही जीवन

[जीवन जीने की कला भाग-३/१९]

देवता का सच्चा पुजारी है । जीवन के एक-एक क्षण को ही मोतियों से तौलने लायक मानकर उसका सदुपयोग किया जा चाहिए ।

समय दैवी संपदा है, इसका सदुपयोग किया जा चाहिए । दूरगामी चिंतन होना चाहिए । काल को भगवान मानना चाहिए । संयम निषेधात्मक नहीं विधेयात्मक गुण है । एक ओर अनावश्यक अपव्यय को रोकना है तो दूसरी ओर सृजनात्मक कार्यों हेतु नियोजित करना भी है । संचय का उसका नियोजन कहीं न हो तो वह संचय ही बेकार है । संयम का स्वरूप समझ कर ही उसका लाभ उठाया जा सकता है । व्यक्ति सर्वप्रथम संयम का लाभ समझने का प्रयास करें । संचय और श्रम को सार्थक और उच्च उद्देश्यों के लिए नियोजित करने पर कार्य में सफलता मिलती है ।

असंयमी समस्याओं का सामना करने में असमर्थ :

संयम का अर्थ अपनी शक्तियों का सदुपयोग है । शक्तियों के दुरुपयोग को रोकना संयम का एक पक्ष है, उसका सदुपयोग करना भी दूसरा पक्ष है । आराम से पड़े रहने पर शक्तियों का कोई अपव्यय नहीं होता, लेकिन आलस्य करने से उनका कोई उपयोग भी नहीं हो पाता । इसलिए सुस्वस्थ और आरामतलवी की वृत्ति असंयम ही कही जाएगी । असंयम के कारण हानि होती है—यह एक सिद्धांत है । सर्वविदित है कि जिस वस्तु का उपयोग नहीं होता, वह अपनी विशेषता खो बैठता है । आलस्य में पड़े रहने, ऐशो-आराम का जीवन व्यतीत करने, श्रम शक्ति का उपयोग न करने वाले व्यक्तियों का शरीर इतना कोमल हो जाता है कि वे सर्दी-गर्मी की साधारण प्रतिकूलता भी बर्दाश्त नहीं कर पाते । जिस प्रकार छुईमुई पौधे उँगली लगते ही मुरझा जाते हैं, उसी प्रकार ऐसे शरीर परिश्रम के अभ्यासी न हों, थोड़ा-सा दबाव पड़ते ही कुम्हल

लगते हैं। बैठे ठाले आदमी बाहर से मोटे भले ही लगें, पर जीवनी शक्ति की न्यूनता के कारण उनके शरीर विभिन्न प्रकार के छोटे-मोटे रोगों से ग्रसित रहते हैं। बैठे रहने के कारण जो रुग्णता उत्पन्न हुई थी, वह धीरे-धीरे परिपक्व होकर इतनी मजबूत हो जाती है कि फिर उस व्यक्ति को बैठे-ठाले रहने के लिए ही विवश कर देती है। कोई समस्या हल नहीं कर पाता। एक उलझन सुलझाने के बारे में सोचता है, दूसरी नई चार उलझनें और सामने आ खड़ी होती हैं। ऐसे व्यक्ति न तो कोई बड़ा साहस कर सकते हैं और न निर्द्वंद्व रह सकते हैं। चारों ओर उन्हें उलझनों का जाल-जंजाल ही बिखरा मालूम देता है।

अनावश्यक कार्यों से बचें :

हमारा बहुत-सा समय व्यर्थ के कार्यों में ही लग जाता है। यदि उसका ठीक ढंग से उपयोग किया जाए, अपने जीवन का व्यस्त कार्यक्रम बनाया जाए और आत्म विकास के लिए परिश्रम किया जाए तो न जाने क्या किया जा सकता है? विनोबा भावे ने स्कूली शिक्षा एक छोटे से दर्जे तक ही प्राप्त की थी, परंतु उन्होंने अपने जीवन का ऐसा व्यस्त कार्यक्रम रखा कि समाज सेवा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य करते हुए भी वैयक्तिक अध्ययन जारी रखा और वे आज संसार के प्रायः प्रमुख भाषाओं और विचारधाराओं के विद्वान हैं। उनकी तुलना के मनीषी संसार में गिने-चुने ही होंगे। शिक्षा विषयक इतनी प्रगति के पीछे कोई चमत्कार नहीं, वरन् उनका अनवरत, क्रमबद्ध और मनयोगपूर्वक किया हुआ श्रम ही है। यही राजमार्ग हम सबके लिए भी खुला पड़ा है, जो चाहे उस पर खुशी-खुशी चल सकता है। दो घंटे निरंतर अध्ययन किसी व्यक्ति को ३० वर्ष में संसार की प्रमुख भाषाओं का विद्वान बना सकता है। आवश्यकता समय को अनावश्यक कार्यों से बचाने और उपयोगी दिशा में नियोजित करने भर की है।

समय सबसे बड़ा धन :

बूढ़े होने या प्रौढ़ता प्राप्त कर लेने के कारण निराश की आवश्यकता नहीं है । प्रगति के लिए न कोई उम्र हो और श्रम के लिए न कोई आयु का बंधन । अतः समय अपव्यय की जो गलती हो गई सो हो चुकी । उसे अब न दिया जाए तथा उपयोगी कार्यों में ही समय लगाने की नीति अपनाई जाए ।

मनुष्य के पास ईश्वर प्रदत्त पूँजी समय है । अतः जब त जीवन है तब तक सारा समय श्रम करते हुए बिताना चाहिए जितना समय आलस्य में पड़े रहकर निठल्लेपन से बिता दिया समझना चाहिए कि जीवन का उतना ही अंश बर्बाद हो गया जो भी हमें अभीष्ट हो, जो कुछ भी हम चाहते हैं, उसी मनोयोगपूर्वक लग जाना चाहिए—सफलता मिलेगी । आलस्य दरिद्रता का ही दूसरा नाम है । आलसी बनने का अर्थ ही दनि बनने की भूमिका तैयार करना है । निठल्लापन अमीरों का रि माना जाता है, पर सही बात यह है कि श्रम के द्वारा स्वास्थ्य एवं संपन्नता मिलती है और जब मनुष्य को आलस्य घेर ले है तो उसका पतन आरंभ हो जाता है ।

सुव्यवस्थित समय विभाजन कीजिए :

समय के श्रेष्ठतम सदुपयोग का एक मात्र उपाय उसका सुव्यवस्थित विभाजन और तदनुसार अपने प्रत्येक क का संपादन । यदि हम अपने दिन भर के कार्यों पर दृष्टिप करें और उनका विश्लेषण करें तो प्रतीत होगा कि हम अधिकांश समय तो सुस्ताने या बदन तोड़ते बीता अथवा ग शप और व्यर्थ की बकवासों में समय की बर्बादी हुई । यदि स के महत्त्व को समझा जाता और उसके सदुपयोग की बात सो जाती तो बहुत—सा खाली समय निकल सकता था तथा उस उपयोग कर अपनी योग्यता, क्षमता, बढ़ाई जा सकती थी

समय सारिणी बनाकर काम करने की आदत इतनी जादू भरी है कि मनुष्य को समय की बर्बादी न करने का अभ्यस्त बना देती है । जैसे हिसाब लिखे बिना नफा-नुकसान का कुछ पता ही नहीं चल पाता, उसी तरह बिना समयचक्र बनाए काम करते रहने वाले को भी यह प्रतीत नहीं होता कि समय का उचित उपयोग हुआ या नहीं । अनेक काम जो आज से कल पर टाले जाते हैं, उसका कारण भी समय का समुचित निर्धारण एवं विभाजन न कर सकने का प्रमाद ही होता है । यदि यह दोष दूर कर लिया जाए तो काम दूना होने लगे और उपयोगी कामों के लिए समय न बचने की शिकायत भी न करनी पड़े ।

अर्थ संयम :

मितव्ययिता एक साधारण गुण है । जो लोग इसके महत्त्व को नहीं समझते और उसकी शक्ति से अपरिचित रहते हैं वे हमेशा आर्थिक कठिनाइयों में फँसे रहते हैं, साथ ही परिवार की उन्नति रोक देते हैं और जिसने भी जीवन की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन का उपयोग किया है, अपव्यय नहीं किया—उसका जीवन सुखी रहा । कृत्रिम आवश्यकताएँ बढ़ा लेने अथवा अपनी स्थिति से अधिक प्रदर्शन करने के लिए हमें अपनी सामर्थ्य से ज्यादा खर्च करना पड़ता है । यों तो जीवन की आवश्यकताएँ कितनी ही हैं, इसकी कोई सीमा या कसौटी नहीं है । मनुष्य की कुछ आवश्यकताएँ तो ऐसी हैं जो कि बहुत ही आवश्यक हैं । कुछ बहुत ही साधारण—सी हैं और बहुत—सी आवश्यकताएँ अनिवार्य हैं । इसलिए अपनी आर्थिक स्थिति को देखकर ऐसी व्यवस्था बनानी चाहिए कि अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति पहले हो और फिर दूसरी आवश्यकताएँ पूरी हो सकें । बहुत से लोग धन का सदुपयोग करने के बजाए उसकी उपयोगिता झूठी शान-शौकत दिखाने, फैशन परस्ती एवं दुर्व्यसनों की पूर्ति में ही समझते हैं । जिनके

पास इतना धन है कि वे इन कार्यों में अपना पैसा खर्च कर उनके लिए भी हानिकारक हैं और समाज के लिए भी । क्योंकि उन्हें देखकर गरीब लोग भी जिनके पास अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भी पर्याप्त धन नहीं रहता इस तरह के अनावश्यक कार्यों में खर्च करने लगते हैं । क्योंकि वे समझते हैं कि इसी में बड़प्पन है । अच्छा तो यह कि यदि अपने पास इतना पैसा हो कि वह आवश्यकता पूर्ति खर्च करने के बाद भी बचे तो उसे इकट्ठा किया जाए । बचा हुआ पैसा आड़े वक्त पर काम आ सकता है या किसी अन्य कार्य में लगाया जा सकता है, लेकिन लोग इस ओर जरा ध्यान नहीं देते । वास्तविकता यह है कि जो जितना महान हो वह उतना ही सजावट और प्रदर्शन के विरुद्ध होगा । हम केवल इस प्रवृत्ति के वशीभूत होकर कि दूसरे हमें अपने से कम समझें, पैसे को अनाप-शनाप खर्च करते चलते हैं । संसार जितने भी महापुरुष, बड़े विद्वान एवं विचारवान् व्यक्ति हुए उनमें मितव्ययिता की प्रवृत्ति पाई गई है ।

अतिव्ययपूर्ण प्रदर्शन में अपव्यय :

वस्त्रों की आवश्यकता इसलिए होती है कि हम अपने शरीर को ढँक सकें । सर्दी-गर्मी से शरीर का बचाव कर सकें और यह साधारण मूल्य के कपड़े से संभव है । यह केवल अमीरों का ही दृष्टिकोण होता है कि फैशन, जेवर या व्यस्य बड़प्पन, अमीरी का चिह्न है । वस्तुतः यह अबुद्धिमत्ता और मूढमति होने का चिह्न है । समाज में धन का उद्धत प्रदर्शन करने वालों की नहीं सादगी, सुसज्जा और सुरुचिपूर्ण ढंग काम करने वाले सद्गुणी व्यक्तियों की प्रतिष्ठा होती है । दरअसल हम जितनी अधिक आवश्यकताएँ बढ़ाते हैं परेशानियाँ उतनी बढ़ती जाती हैं और उनकी पूर्ति के लिए उचित-अनुचित साधनों का प्रयोग करना पड़ता है । प्रत्यक्ष में इसके परिणाम

बेईमानी, धूस, चोरी, हत्या, गृहकलह आदि के रूप में देख रहे हैं । समाज में अधिकांश आर्थिक अपराधों की जड़ धन का उद्धत और अविवेकपूर्ण प्रदर्शन ही है । जिन लोगों को वैसे साधन और वैसे अवसर उपलब्ध नहीं हो पाते, जैसे अपने से अमीर व्यक्तियों के पास उपलब्ध होते हैं तो वे भी उन साधनों को प्राप्त करने के लिए ललक उठते हैं । वह ललक इतनी तीव्र होती है कि व्यक्ति जिस किसी भी ढंग से संभव हो, उचित या अनुचित हर ढंग से उसे प्राप्त कर लेना चाहता है । ईमानदारी और मेहनत से कमाने के लिए लंबी प्रतीक्षा करनी पड़ती है ।

संयम और सादगी से जीवन का उत्कर्ष :

संपन्न हो या निर्धन, अपव्यय तो किसी को भी नहीं करना चाहिए । अपव्यय व्यक्तिगत दृष्टि से भी और सामाजिक दृष्टि से भी अनर्थकारी है । इसलिए कहावत है कि “धन कमाना सरल है, पर उसे खर्च करना कठिन है” । सादगी एक ऐसा नियम है जिसके सहारे हम अपने वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन की बहुत सी समस्याओं को सहज ही हल कर सकते हैं । सादगी के द्वारा अपना बहुत-सा समय एवं धन, खर्च होने वाली शक्तियाँ बचा सकते हैं और उनका अपने उत्कर्ष के लिए सदुपयोग कर सकते हैं । इसीलिए हमारे पूर्वजों ने जीवन के बाह्य विभाग को कम महत्व दिया । सादगी से जीवन बिताने के लिए कहा है ताकि हमारी शक्ति व्यर्थ नष्ट न होकर उसका सदुपयोग अच्छे कार्यों में किया जा सके । जीवन के महान् लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उल्लेखनीय सफलताओं के लिए, यही मार्ग हर व्यक्ति को अपनाना चाहिए । विभूतियों को सही दिशा में नियोजित करना संयम साधना के बिना संभव नहीं । अस्तु संयम वृत्ति का विकास संयम साधना का अभ्यास हम जितनी स्तरता से कर सकें आत्मकल्याण एवं जनकल्याण की दिशा में उतनी ही अधिक प्रगति कर सकेंगे ।

क्या किया जाए ?

आपने ऐसे व्यक्ति देखे होंगे जो बातें करने बैठें तो अपने समय का उन्हें ध्यान रहता है न दूसरे के । समय मूल्य न पहचानने वाले लोग कभी सफल नहीं हो सकते कृपया ध्यान रखें, समय अमूल्य है, समय तथा धन को सावधानी से, सुनियोजित ढंग से व्यय करें । जब भी किसी बात करें तो कम-से-कम समय में ही अपनी बात कहें । र आपकी बात में अधिक समय लग रहा हो तो बातचीत के सुनने वाले व्यक्ति की भाव-भंगिमा का भी ध्यान रखें । कहीं ऊब तो नहीं रहा है । अपनी दिनचर्या का समयबद्ध नियमन लें । इससे आपको ही नहीं, परिवार के अन्य सदस्यों को सुविधा होगी । परिवार में सबको ज्ञात है कि आप चार ब अपराह्न चाय पीते हैं तो भोजन के पश्चात् चार बजे तक आप पत्नी विश्राम कर सकती हैं । पारिवारिक बजट की भाँति सारिणी बना लेना बहुत उपयोगी है । आपको आगामी माह कितनी आय की आशा है, किन-किन मदों में आपको क्या-व व्यय करना है ? यह सब लिखित में अनुमान लगाइए । इस उ जरा-सी असावधानी से आपके परिवार का सारा संतुल बिगड़ सकता है । बजट बनाने से पूर्व अपने बच्चों, अपनी प तथा जो भी अन्य सदस्य हों उनसे अनुमानिक व्यय पूछना भूलें । बजट ठीक होगा तो सभी में विश्वास एवं संतोष हो क्लेश-कलह का वातावरण नहीं होगा ।

असफलता, निराश, भूल और दुःखों से मन को पराजित न होने दीजिए । ये प्रतिकूलताएँ लोक-व्यवहार में अति साधारण बातें हैं, जो प्रत्येक महान् व्यक्ति के जीवन में आई हैं । इनको जीतकर निरंतर कार्य करते रहकर ही मनुष्य सफलता प्राप्त कर सके हैं ।

हमारी ज्ञानेंद्रियाँ, गतिविधियों का स्रोत :

पिछले यूनिट में हमने समय संयम और अर्थ संयम के संबंध में अध्ययन किया था और देखा था कि समय का सुनियोजन सफलता की एक महत्वपूर्ण शर्त होती है। समय का नाश जीवन का नाश होता है। धन का उपार्जन जितनी कुशलता से किया जाना चाहिए उससे अधिक कुशलता की आवश्यकता उसे व्यय करने में होती है। धन का अपव्यय अथवा अनुपयुक्त व्यय दोनों ही हानिकर हैं। परिश्रम से कमाए हुए धन को यदि उचित-अनुचित, स्वार्थ-परमार्थ का ध्यान रखते हुए विवेकपूर्ण ढंग से व्यय नहीं किया गया तो आप अपयश, असंतोष एवं पाप के भागीदार बनेंगे। दो अन्य प्रकार के असंयम अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं, जिनका निर्वाह जीवन में सफलता की कामना करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए।

आग और बिजली की तरह ज्ञानेंद्रियों की उपयोगिता है। हमारी समस्त गतिविधियाँ उन्हीं के सहारे चलती हैं। आँखें न हों तो ? कान न हों तो ? जीभ न हो तो ? देखना, सुनना और बोलना कठिन हो जाए और मनुष्य अंधा, गूँगा, बहरा बनकर मिट्टी की तरह किसी प्रकार जीवित भर रह सकेगा। हाथ-पैर न हों तो वह गोबर के ढेर जैसा बैठा रहेगा और साँस भर लेता रहेगा। आग और बिजली की तरह भगवान ने इंद्रियाँ भी इसलिए दी हैं कि उनसे कठिनाइयों का हल निकाला जाए और प्रगति का द्वार खोला जा सके। सुसंपन्न और प्रगतिशील बनने में इंद्रियाँ ही प्रमुख भूमिका निभाती हैं। आग और बिजली की तरह उनकी क्षमता भी असाधारण है, लेकिन उनका लाभ

[जीवन जीने की कला भाग-३/२७]

तभी तक है, जब तक कि उनका सत्प्रयोजनों में योजनाबद्ध ँ में सतर्कतापूर्वक उपयोग किया जाए । यदि इसमें व्यक्ति उत्पन्न किया जाए, तो समझना चाहिए कि अनर्थ को आमंत्रित किया जा रहा है । स्रष्टा ने इंद्रियों में दुहरी विशेष भरी हैं । वे जीवनचर्या के महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्वों का भी व करती हैं, साथ ही उनमें सरसता का पुट भी है । जिसके सा कहीं बाहर न जाकर इन्हीं के सहारे मनोरंजन का भरपूर त उठाया जा सकता है । यह कृत्य जब तक सीमाबद्ध रहता तब तक उनका उभय पक्षीय लाभ भी है, पर जब स्वाद सरसता नशेबाजी की तरह व्यसन बन जाती है और मर्याद का उल्लंघन करती है तो उससे होने वाली हानि भी असाधा हो जाती है ।

इंद्रियों का अमर्यादित उपयोग विनाशकारी :

आँख का उपयोग वस्तुओं का देखना और उनका सदुप करना है । अध्ययन-अध्यापन में भी उन्हीं की प्रधानता रा है । शिल्प-व्यवसाय में आँखों की प्रमुखतापूर्ण भूमिका रा है । यह उसका क्रियापक्ष हुआ । मनोरंजन पक्ष वह है, ँ प्रकृति के सौंदर्य को निहारते हुए उल्लास भरा आनंद ति जाता है । सौंदर्य-बोध उन्हीं के सहारे होता है । सिने अभिनय, नृत्य को सीमा से बाहर टकटकी लगाकर देखते र से आँखों की क्षमता नष्ट होती है । अन्य इंद्रियों के संबंध में ँ बात है और यही बात उनके द्वारा किए जाने वाले रसास्वा के संबंध में है । यदि उसमें अति बरती गई, लोलुपता को व्य बना लिया गया तो इसका प्रभाव उनकी निजी क्षमता दिवाला पिट जाना तो होता ही है, हानि से सहज ही शरीर ँ जीवन भी प्रभावित होता है । इसी रसास्वादन में अति बर की आदत को वासना कहते हैं । शास्त्रकारों ने वासना अतिशय निंदा की है और उसे आत्मघाती बताया है ।

सफलता की अनिवार्य शर्त इंद्रिय संयम :

इंद्रियों का संयम ही मानव जीवन में सबसे अधिक आवश्यक है । विशेष रूप से जिह्वा तथा जननेंद्रिय को वश में करना आवश्यक है । जिह्वा के दो कार्य हैं—रसास्वादन करना और वार्तालाप करना । ये दोनों ही कार्य महत्त्वपूर्ण हैं और इन पर संयम भी रखना आवश्यक है । पारिवारिक कलह तथा स्वास्थ्य नष्ट होने का मूल कारण जिह्वा का असंयम ही होता है । सीताहरण, लंकादहन, महाभारत वाणी की कटुता के कारण हुए । कटु वचन असहनीय होते हैं । कहते हैं कि तलवार का घाव भर जाता है, पर कटु वाणी का घाव जीवन भर रहता है । इंद्रिय संयम में दूसरा संयम है—जननेंद्रिय का संयम । ब्रह्मचर्य की महत्ता को भली प्रकार सब जानते हुए भी अज्ञानी बने हुए हैं । इसमें शिथिलता उत्पन्न करने वाली विचारधारा इसके लिए दोषी है । इसलिए व्यक्ति को आत्मसंयम द्वारा ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए ।

विचार संयम की आवश्यकता :

व्यक्ति अपने विचारों को ही कार्य रूप में परिणत करता है । जो कुछ व्यक्ति सोचता है, वैसा ही करता है और वह वैसा ही बन जाता है । विचारों की अस्पष्टता से उत्तेजना, असहिष्णुता, निष्ठुरता जैसी पैशाचिक प्रवृत्तियाँ पनपती हैं । उन्हीं के कारण मनुष्य नर—पिशाच तक बन जाता है । विचारों को संयमित करके व्यक्ति लौकिक और आंतरिक जगत में आनंद लाभ ले सकता है । विचारों के असंयम से ही मन, समय एवं धन का अपव्यय आरंभ होता है । मानसिक क्षेत्र में हम अवांछनीय और निरर्थक चिंतनधारा को उपयोगी और सार्थक दिशा में मोड़े, शारीरिक दृष्टि से इंद्रियों को विषयोन्मुख न होने देकर अंतर्मुखी, आत्मोन्मुखी करें और भौतिक संपदा का सही उपयोग करना सीख लें तो यह जीवन ही धन्य हो सकता है । जीवनोत्कर्ष के

[जीवन जीने की कला भाग-३/२९]

लिए प्रयासरत हर साधक को चाहिए कि संयम की विभिन्न धाराओं को सही ढंग से समझें तथा जीवन में उनका समावेश करें ।

मानसिक शक्तियों का अपव्यय न करें :

साहित्यकार जब किसी कृति का सृजन करता है उसके मस्तिष्क में दुनिया की कोई बात नहीं रहती है, साध्यान एवं उसकी संपूर्ण मानसिक शक्ति उस कृति के सुबनाने में लगी रहती है । मानसिक शक्ति को सभी दिशाओं से रोककर अपने कार्य में लगाना चाहिए । संसार में जितने महापुरुष हुए हैं, उन्होंने अपनी मानसिक शक्ति को सभी दिशाओं से रोककर अपने कार्यों में लगाए रखा और उनका बिखराव होने देकर महान कार्य संपन्न किए । प्रायः हमारी मानसिक शक्तियाँ उन विभिन्न दिशाओं में यों ही बिखर जाती हैं, उनका कोई उपयोग नहीं हो पाता और वे जब व्यर्थ दिशाओं में अनुपयुक्त और अवांछनीय ढंग से खर्च होती हैं, जो मनुष्य पास उपयोगी कार्यों के लिए उपयोगी दिशाओं में लगाने के लिए मानसिक शक्ति रह ही नहीं पाती । विकास और अवनति के सभी स्तर मनुष्यों में दिखाई देते हैं उनका कारण मानसिक शक्तियों का अनुपयुक्त अथवा अवांछनीय दिशाओं में लगना है । प्रत्येक व्यक्ति में मानसिक शक्ति के विकास की प्रसंभावनाएँ विद्यमान हैं, लेकिन वे विकसित तब होती हैं, जब उनका उपयोग करना सीखा जाए । उपयोग न किया जा तो घाटा है और गलत दिशा में उपयोग किया गया तो हानि है । अतः साधक को अपनी मानसिक शक्तियों का प्रवाह गलत दिशा से रोकने के साथ-साथ उसे सही दिशा में मोड़ने की साधना में संयम की सफलता समझनी चाहिए अन्यथा वह एकांगी रह जाएगा और उससे कोई विशेष लाभ नहीं उठा जा सकेगा ।

विचारों को सही दिशा दें :

किसी भी वस्तु का प्रभाव या कोई विचार हमारे मस्तिष्क में देर तक बना रहता है । यदि वह घनीभूत हुआ तो उसे प्राप्त करने या साक्षात् करने की भी आकांक्षा उठती है । उस आकांक्षा की पूर्ति के लिए मनुष्य प्रबल प्रयत्न भी करने लगता है अर्थात् विचार मनुष्य को कोई कार्य करने तथा किसी दिशा में प्रवृत्त करने का भी कारण है । विषयों का चिंतन करने से उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्ति से कामना और कामना में विघ्न पड़ने पर क्रोध उत्पन्न होता है । क्रोध से मूढ़ता और मूढ़ता के कारण मनुष्य पथ-भ्रष्ट हो जाता है, जिससे उसका विनाश होता है ।

प्रायः हमारी शक्तियाँ इसी प्रकार नष्ट होती हैं । जिन विषयों का चिंतन हमें नहीं करना चाहिए या जो विचार प्रत्यक्ष पतन की दिशा में ढकेलने वाले लगते हैं उन्हें सोचने, समझने और मन के लड़्डू खाते रहने में ही अधिकांश लोग अपना चिंतन और समय नष्ट करते हैं । प्रायः ज्यादातर लोग तरह-तरह के सपने देखा करते हैं और अपनी मानसिक शक्ति का जो श्रेष्ठतम उपयोग इस समय के लिए किया जा सकता था, उसे भविष्य का ताना-बाना बुनने या बीते हुए कल का पश्चात्ताप करने में नष्ट कर देते हैं ।

इस प्रकार के अपव्यय से हानि यह है कि हम अपनी मानसिक शक्तियों का लाभ उठाने से ही वंचित रह जाते हैं । अपनी शक्तियों को अवांछनीय दिशाओं में व्यय करना प्रत्यक्ष ही हानि उपस्थित करना है ।

मनुष्य विचार करने में स्वतंत्र है, इसलिए विचार जब आकांक्षा का रूप धारण कर लेते हैं तो व्यक्ति उस आकांक्षा को पूरा करने के अवसर की ताक में रहता है । अपराधकर्म या अवांछनीय कार्यों के जनक अपराधी और अवांछनीय विचार ही

हैं । बाहरी परिस्थितियाँ तो विचारों के अनुरूप ही प्रकट डालती हैं । अर्जुन से एक बार इंद्र दरबार की अप्सरा उद्योत ने प्रणय निवेदन किया । यदि अर्जुन विचारों से व्यभिचारी होता तो वही परिस्थिति उनके लिए पतन का कारण बन जाती। लेकिन अर्जुन ने विचारों का संयम, परिस्थितियों से अप्रभावित रहना सीखा था, सो वही परिस्थिति उनके चरित्र को निखारवाली बन गई । अतः किसी दुष्कर्म का कलंक मिटाने के लिए यह नहीं कहा जा सकता है कि वह आकस्मिक या परिस्थितिवश हुआ । वस्तुतः उसकी जड़ हमारे विचारों में, हमारे चिंतन और अनौचित्य के रूप में पहले ही जम चुकी थी ।

चिंतन को बहकने न दें :

अनावश्यक और अवांछनीय चिंतन में अपनी मानसिक शक्ति का अपव्यय रोकते रहने से ही उन्हें रचनात्मक दिशा लगाने योग्य स्थिति बन पाती है । बाह्य परिस्थिति में परिवर्तन के लिए मानसिक संयम सर्वप्रथम आवश्यक है । अपनी मानसिक शक्तियों की धारा अनावश्यक और अवांछनीय दिशा में मोड़कर रचनात्मक दिशा में प्रवाहित करते ही मनुष्य का कार्यात्मक आरंभ हो जाता है । अवांछनीय और निरूपयोगी विचार मनुष्य को दिग्भ्रंत और पथ भ्रष्ट करते हैं । उन्हीं से तृष्णा, वासना, अहंता और उद्विग्नता आदि विकार उत्पन्न होते हैं । सिनेमा देखने और उपन्यास पढ़ने का प्रभाव अवांछनीय दिशा में बहक गया तो वैसी ही स्थिति प्राप्त करने का जी होने लगता है । यही बात अनुरूपयोगी चिंतन के कारण होती है और व्यक्ति अपनी इच्छित वस्तु को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है । उसमें रुकावटें अहं को उत्तेजित करती हैं । ईर्ष्या, द्वेष और बैर-विरोध उत्पन्न होता है अथवा उद्विग्नता, उत्तेजना जैसे विकार उत्पन्न होते हैं । इन विकारों की जड़ है अवांछनीय और अनावश्यक चिंतन ही, पर ये विकार मानसिक

शक्तियों के दहन में घी का काम करते हैं । घी जलता है और जलती हुई चीजों में उसे डाल दिया जाए तो आग और भड़क उठती है । अवांछनीय चिंतन और अवांछनीय विचार तो मानसिक शक्ति को बर्बाद करते हैं, उनमें घृणा, वासना, अहंता और उद्विग्नता के विकार भी शामिल हो जाते हैं तो वह विनाश और भी अधिक भभक उठता है ।

क्या किया जाए ?

आज जिस समाज में फास्ट फूड, चायनीज एवं साउथ इंडियन डिशेज के नाम पर खाद्य-अखाद्य सब कुछ परोसा जा रहा हो, संगीत के नाम पर कर्णभेदी संगीत तथा जलते-बुझते प्रकाश और भड़काऊ नृत्य हो रहे हों, सौंदर्य प्रसाधनों के नाम पर विषैली रासायनिक गंधों वाले पाउडरों, कॉस्मेटिक्स एवं परफ्यूम का प्रचलन बढ़ रहा हो, टी. वी. एवं केबिल टी. वी. के माध्यम से परिवारों की शालीनता, संकोच, संस्कृति तक प्रभावित हो रही हों, बुकस्टालों पर विकृत मनोवृत्तियों को उकसाने वाली पत्रिकाएँ एवं उपन्यास बिना किसी रोक-टोक के बिक रहे हों, वहाँ आपसे इंद्रिय संयम की बात करना आपको असंगत लगेगा, आप कहेंगे, “भला हम कर भी क्या सकते हैं ?” हमारा आपसे निवेदन है कि आप निराश न हों, स्वयं को असहाय अनुभव न करें । आप स्वयं सोचें, क्या इसी समाज में आपको ऐसे परिवार नहीं मिलते जिनके पुत्र महत्त्वपूर्ण पदों पर हों, पुत्रवधुएँ साधारण रूप से सुंदर हों, घर में आधुनिक साधन भी हों, बाहर उनका अपना समवयस्क परिचय क्षेत्र भी हो, फिर भी वे संस्कारवान्, शांतिपूर्ण, सम्मानपूर्ण जीवन जी रहे हों ? वास्तविकता यह है कि विचारों का असंयम ही इंद्रियजन्य असंयम को जन्म देता है । इसके लिए कुछ सुझाव यहाँ दिए जा रहे हैं । कृपया प्रयोग स्वरूप इनका क्रियान्वयन करके देखें, प्रभाव स्वयं ही आपके समक्ष आने लगेगा ।

१. बच्चे चाहें वयस्क हों अथवा छोटे, उनके समान अपना दांपत्य जीवन सहज, उल्लासपूर्ण, हलके-फुलके मित्रवत् तथा कामुकता रहित रूप में ही प्रस्तुत करें ।

२. अपनी व्यस्त दिनचर्या में से बच्चों के लिए कुछ समय अवश्य निकालें । उनकी समस्याएँ सुनें । उनका समाधान ढूँढ़ें । आत्मीयता प्रदान करें और विश्वास जगाएँ ।

३. पुत्र-पुत्रियाँ बड़ी हो जाएँ अथवा होने लगें तो उनसे मित्रवत् एवं भाई जैसा व्यवहार करें । उन्हें ऐसा लगे कि उनकी कोई ग्रंथि ऐसी नहीं है, जिसे वे अपने पिता अथवा माँ के समक्ष खोल नहीं सकते ।

४. परिवार का संपूर्ण वातावरण प्यार एवं सहकार से सराबोर हो ।

५. समय-समय पर किसी समाचार पत्र का अथवा पुस्तक का संदर्भ देते हुए बच्चों से विषैले बाजारू भोजन, हानिकारक सौंदर्य प्रसाधनों एवं कुत्सित साहित्य इत्यादि के संबंध में इस प्रकार चर्चा करते रहें कि जिससे शनैः-शनैः उनके प्रति उनमें अरुचि उत्पन्न होने लगे ।

६. टी.वी. कार्यक्रमों की बुराइयों के प्रति बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से उनमें घृणा उत्पन्न करें और प्रेरक सीरियलों के लिए उन्हें प्रोत्साहित करें ।

७. आपके बच्चों को कहीं भी ऐसा न लगे कि आप उन्हें इन बातों से बलात् रोक रहे हैं । आपको केवल सुझावात्मक उपचार करना है । आपके सुझाव वे सुनेंगे, वे अचेतन में चले जाएँगे । कालांतर में जब वे अचेतन से चेतन में आ जाएँगे तो वही उनके अपने विचार बन जाएँगे ।

८. अच्छे नवीन व्यंजन बनाना सीखिए । कभी-कभी परिवार में ही रोजमर्रा के ढर्रे से अलग व्यंजन बनाइए ।

९. बच्चों के साथ हँसना, खिल-खिलाना मत भूलिए और यदि आपको संगीत आता है तो सबके साथ कभी-कभी खुलकर गाइए-बजाइए ।

आपके जीवन पथ में आने वाली बाधाओं के प्रति आपको सचेत किया। साथ ही उन विशेषताओं की ओर भी आपको प्रेरित किया, जिन्हें अपनाने से आप सफल व्यक्ति कहे जाएँगे। आप समाज की प्रथम इकाई हैं। व्यक्ति परिवार का सदस्य होता है और परिवारों का दायित्व समाज के प्रति होता है। अब हम पारिवारिकता एवं सामाजिकता का अध्ययन करेंगे।

परिवार एक प्रयोगशाला :

व्यक्ति और समाज के बीच की कड़ी परिवार है। समाज का विशाल कलेवर परिवार की छोटी-छोटी इकाइयों का समूह ही है। कड़ियों के मजबूत होने से जंजीर मजबूत होती है। अस्तु हमें परिवारों का वातावरण ऐसा बनाना चाहिए जिसमें जन्मा, पला और बढ़ा व्यक्ति हर दृष्टि से सुयोग्य-सुविकसित बन सके। परिवार एक छोटा-सा समाज एवं छोटा राष्ट्र है। उसकी सुव्यवस्था एवं शालीनता उतनी ही महत्त्वपूर्ण है, जितनी बड़े रूप में समूचे राष्ट्र की। इस छोटी-सी प्रयोगशाला में उसके प्रत्येक सदस्य को वैयक्तिक कर्तव्यों एवं सामाजिक उत्तरदायित्वों को समझने, निबाहने की शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिल सके, ऐसा ढाँचा खड़ा किया जाना चाहिए। यह प्रवृत्ति विकसित होते-होते विश्व नागरिकता एवं मानव परिवार का सृजन करेगी। परिवार के प्रति अपने उत्तरदायित्व समझें जाएँ, किंतु उनके प्रति मोहग्रस्त न हुआ जाए।

परिवार एक तपस्थली :

परिवार संस्था एक तपस्थली है, जहाँ व्यक्ति स्वेच्छा से तप, त्याग, धर्माचरण का अवलंबन लेता है। परिवार में मनुष्य का

१. बच्चे चाहें वयस्क हों अथवा छोटे, उनके समय अपना दांपत्य जीवन सहज, उल्लासपूर्ण, हलके-फुलके मित्रवत् तथा कामुकता रहित रूप में ही प्रस्तुत करें ।

२. अपनी व्यस्त दिनचर्या में से बच्चों के लिए कुछ समय अवश्य निकालें । उनकी समस्याएँ सुनें । उनका समाधान ढूँढ़ें । आत्मीयता प्रदान करें और विश्वास जगाएँ ।

३. पुत्र-पुत्रियाँ बड़ी हो जाएँ अथवा होने लगें तो उनसे मित्रवत् एवं भाई जैसा व्यवहार करें । उन्हें ऐसा लगे कि उनकी कोई ग्रंथि ऐसी नहीं है, जिसे वे अपने पिता अथवा माँ के समक्ष खोल नहीं सकते ।

४. परिवार का संपूर्ण वातावरण प्यार एवं सहकार से सराबोर हो ।

५. समय-समय पर किसी समाचार पत्र का अथवा पुस्तक का संदर्भ देते हुए बच्चों से विषैले बाजारू भोजन, हानिकारक सौंदर्य प्रसाधनों एवं कुत्सित साहित्य इत्यादि के संबंध में इस प्रकार चर्चा करते रहें कि जिससे शनैः-शनैः उनके प्रति उनमें अरुचि उत्पन्न होने लगे ।

६. टी. वी. कार्यक्रमों की बुराइयों के प्रति बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से उनमें घृणा उत्पन्न करें और प्रेरक सीरियलों के लिए उन्हें प्रोत्साहित करें ।

७. आपके बच्चों को कहीं भी ऐसा न लगे कि आप उन्हें इन बातों से बलात् रोक रहे हैं । आपको केवल सुझावात्मक उपचार करना है । आपके सुझाव वे सुनेंगे, वे अचेतन में चले जाएँगे । कालांतर में जब वे अचेतन से चेतन में आ जाएँगे तो वही उनके अपने विचार बन जाएँगे ।

८. अच्छे नवीन व्यंजन बनाना सीखिए । कभी-कभी परिवार में ही रोजमर्रा के ढर्रे से अलग व्यंजन बनाइए ।

९. बच्चों के साथ हँसना, खिल-खिलाना मत भूलिए और यदि आपको संगीत आता है तो सबके साथ कभी-कभी खुलकर गाइए-बजाइए ।

आपके जीवन पथ में आने वाली बाधाओं के प्रति आपको सचेत किया। साथ ही उन विशेषताओं की ओर भी आपको प्रेरित किया, जिन्हें अपनाने से आप सफल व्यक्ति कहे जाएँगे। आप समाज की प्रथम इकाई हैं। व्यक्ति परिवार का सदस्य होता है और परिवारों का दायित्व समाज के प्रति होता है। अब हम पारिवारिकता एवं सामाजिकता का अध्ययन करेंगे।

परिवार एक प्रयोगशाला :

व्यक्ति और समाज के बीच की कड़ी परिवार है। समाज का विशाल कलेवर परिवार की छोटी-छोटी इकाइयों का समूह ही है। कड़ियों के मजबूत होने से जंजीर मजबूत होती है। अस्तु हमें परिवारों का वातावरण ऐसा बनाना चाहिए जिसमें जन्मा, पला और बड़ा व्यक्ति हर दृष्टि से सुयोग्य-सुविकसित बन सके। परिवार एक छोटा-सा समाज एवं छोटा राष्ट्र है। उसकी सुव्यवस्था एवं शालीनता उतनी ही महत्त्वपूर्ण है, जितनी बड़े रूप में समूचे राष्ट्र की। इस छोटी-सी प्रयोगशाला में उसके प्रत्येक सदस्य को वैयक्तिक कर्तव्यों एवं सामाजिक उत्तरदायित्वों को समझने, निबाहने की शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिल सके, ऐसा ढाँचा खड़ा किया जाना चाहिए। यह प्रवृत्ति विकसित होते-होते विश्व नागरिकता एवं मानव परिवार का सृजन करेगी। परिवार के प्रति अपने उत्तरदायित्व समझें जाएँ, किंतु उनके प्रति मोहग्रस्त न हुआ जाए।

परिवार एक तपस्थली :

परिवार संस्था एक तपस्थली है, जहाँ व्यक्ति स्वेच्छा से तप, त्याग, धर्माचरण का अवलंबन लेता है। परिवार में मनुष्य का

आत्मिक—मानसिक विकास सरलता से हो जाता है। परस्पर एक-दूसरे के प्रति कर्तव्य निभाने का धर्म मनुष्यों का जीवन निखार देता है। वस्तुतः परिवार की सार्थकता ही यह थी कि वह व्यक्ति की जहरीली संकीर्णता और तीक्ष्ण स्वार्थपरता को घिसता—पीसता था तथा उसे समरस बनाकर सहनशीलता, संतोष, सहयोग, सामाजिकता की, सेवा की भावनाएँ जगाकर समाज के लिए सहायक बनाता था। परिवार का द्वार सदा समाज की ओर खुलता है। जब उसका आधार प्रेम, त्याग और कर्तव्य—परायणता न रहकर एक-दूसरे को खाते हुए जीने की घात लगाते रहना और छीनाझपटी की ताक में रहना ही हो गया तो फिर उसका परिणाम ऐसे नागरिकों के रूप में सामने आने लगेगा, जो एक-दूसरे को लील जाने की तैयारी कर रहे हैं।

पाश्चात्य समाज में परिवार :

पश्चिम में आए दिन होने वाले संबंध विच्छेद बच्चों को जिस दारुण कुंठा और मानसिक अव्यवस्था का शिकार बना रहे हैं, वह भयावह है। मन में आत्मीयता की डोरी लहराती भी रहे तो, औद्योगिक जीवन की व्यस्तता में बच्चों से उसके जुड़ पाने का समय कहाँ ? जहाँ इंद्रिय लिप्सा और स्वच्छंदता ही परिवार का आधार है, वहाँ बच्चों की किसे चिंता है। स्वयं जीवन का सुख—स्वाद लेने से फुरसत मिले, तब तो बच्चों पर ध्यान दें। सभ्यता की मर्यादाओं के अंतर्गत बच्चों के प्रति औपचारिक जिम्मेदारियाँ तो निभाई जाती हैं, पर आंतरिक स्नेह के अभाव में सूनापन कभी भी दूर नहीं हो पाता। महामना ऋषियों ने भारतीय परिवार व्यवस्था में उच्च आध्यात्मिक लक्ष्यों को भी बड़ी खूबी के साथ जोड़कर रखा। भारतीय परिवार—व्यवस्था को वर्तमान परिस्थितियों के अनुरूप उसमें थोड़ा—सा परिवर्तन परिमार्जन भर करके युगानुकूल आदर्श परिवार प्रणाली के रूप में प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

भारतीय समाज में पारिवारिकता :

भारतीय और पाश्चात्य समाज दोनों का अध्ययन, विश्लेषण करने वाले समाज शास्त्रियों का यह सर्वसम्मत निष्कर्ष है कि भारतीय समाज पारिवारिक अधिक है, जब कि पश्चिमी समाज प्रधानतः व्यक्तिगत है। ऊपरी तौर पर पत्नी और बच्चों के मामले में इन दोनों समाजों में जो कुछ साम्य दीखने लगा है उसका भी विवेचन किया गया है और पाया गया है कि अभी भी यह समानता मात्र ऊपरी है। भीतरी भिन्नता मुख्यतः दृष्टिकोण की है। दोनों समाजों की खामियाँ-कमियाँ भी इसी भिन्न दृष्टि के कारण अलग-अलग हैं और विशेषताएँ भी। बाहरी तौर पर देखना हो तो यह भिन्नता बच्चों के मामले में अधिक है। भारतीय माता-पिता आर्थिक अभाव के कारण बच्चों के लिए समुचित साधन तो नहीं जुटा पाते किंतु सभी भारतीय माता-पिता बच्चों के प्रति समान रूप से संवेदनशील तथा आत्मीयतापूर्ण होते हैं। पारिवारिकता की इस भारतीय भावना को उपेक्षित नहीं संरक्षित एवं विकसित किए जाने की आवश्यकता है। इसके मूल में जो संवेदनाएँ हैं, सघन आत्मीयता की ऊष्मा और 'स्व' की परिधि के विस्तार की प्रेरणा है। यह मानव जीवन को समृद्ध बनाने वाली है। शिक्षित-समझदार लोगों का तो यह विशेष कर्तव्य है कि वे इसके मूल में सन्निहित विशेषता को भलीभाँति और फिर इन भाव भरी प्रेरणाओं का निरंतर पोषण करें। संगठन, सहयोग, भावनात्मक प्रगाढ़ता, पारस्परिक प्रेम, इच्छाओं-आवश्यकताओं के नियमन, आत्मानुशासन, एक-दूसरे के लिए त्याग की सत्प्रवृत्तियाँ इस पारिवारिकता से सहज ही विकसित होती चलती हैं। अपनेपन की विशेष अनुभूति ही पारिवारिकता का आधार है। यह अपनत्व कितना अधिक समर्थ एवं गुणकारी है। यह अनुभव की ही वस्तु है।

इसी आपसी सौहार्द-सहयोग, स्नेह-सौजन्य का नाम

[जीवन जीने की कला भाग-३/३७]

पारिवारिकता है । इसके बिना आनंद कोसों दूर भाग जाता है । इस स्थिति को समाप्त करने के लिए वे प्रक्रियाएँ—प्रेरणाएँ तथा दिशाएँ अपनानी होंगी, जो पारिवारिकता की भावना को ही प्रधानता दें न कि उसकी उपेक्षा कर बौद्धिक जोड़-तोड़, स्वार्थ केंद्रित समझौते तथा भावनाशून्य सहजीवन का विचार करें और इसे ही आधुनिकता मान बैठें । यह आधुनिकता बहुत मँहगी पड़ेगी । इससे बचना चाहिए ।

टूटते संयुक्त परिवार :

एक साथ रहने से छोटे-बड़े सभी सदस्यों की समस्याओं का समाधान सहज ही निकल आता है । इस तरह के संयुक्त परिवार अपने देश में कभी बहुतायत से देखे जाते थे, पर आज यह प्रणाली विघटन के कगार पर दिखाई देती है । नव विवाहित दंपतियों में किन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर अपने परिवार से अलग होने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है । अनुभव की कमी और जीवन की स्वच्छंदता के कारण उठाया गया यह कदम इन दंपतियों को बहुत मँहगा पड़ता है । जब परिवार बनता है, बच्चों का जन्म होता है, उनके पालन-पोषण और व्यक्तित्व विकास का समय आता है, तब एक नहीं अनेक प्रश्न उठ खड़े होते हैं और जिस स्वर्गीय-सुख की कामना से संयुक्त परिवार टूटा था, निरा स्वप्न सिद्ध होता है । भावावेश में उठाया गया यह कदम भी गलत सिद्ध होता है ।

पारिवारिक विघटन का सबसे ज्यादा प्रभाव बालकों के विकास पर होता है । संयुक्त परिवार में बच्चों को दादी-दादा का, चाचा-ताऊ आदि अनेक परिजनों का स्नेह-ममत्व मिलता है । बालक प्रेम और आत्मीयता भरे इस वातावरण में पुलकित हो उठते हैं । सब ओर से मिलने वाला प्रेम बालक के व्यक्तित्व का विकास करने में सबसे अधिक सहायक होता है । जबकि विघटित परिवार में केवल माता-पिता ही होते हैं । इनके

अतिरिक्त और किन्हीं आत्मीयजनों का स्नेह नहीं मिल पाता । बालक कोई गलती करता है तो माता-पिता खीझ उठते हैं । बच्चे को अनावश्यक रूप से डाँट-डपट देते हैं, जिसका प्रभाव उसके कोमल मन पर पड़ता है ।

सामाजिकता और मनुष्य :

मनुष्य सामाजिक प्राणी है । समाज के सहयोग से ही व्यक्तियों को सुखी-समुन्नत बनने का अवसर मिलता है । एकाकी उन्नति कितनी भी क्यों न कर ली जाए, विकृत परिस्थितियों में घिरे समाज में रहकर कोई भी सुख-चैन से नहीं रह सकता । जबकि समुन्नत समाज के हर सदस्य को अनायास ही सुख-शांति का लाभ मिलता रहता है । हमें अपने को समाज रूपी घड़ी का एक पुर्जा मानना चाहिए और ध्यान रखना चाहिए कि अपनी गतिविधियाँ ऐसी रखें कि जिसमें घड़ी की गतिशीलता ठीक बनी रहे । उसमें किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न न हो । इस दृष्टि से हमें सामाजिक मर्यादाओं और नागरिक कर्तव्यों का सतर्कतापूर्वक पालन करना चाहिए । साथ ही अपने प्रभाव क्षेत्र में ऐसा वातावरण बनाना चाहिए जिससे दूसरों की समाजनिष्ठा भी अक्षुण्ण बनी रहे ।

दूसरों के साथ वही व्यवहार किया जाए जिसकी हम दूसरों से अपने प्रति अपेक्षा करते हैं । इस कसौटी पर जो भी कार्य खरे उतरें, उन्हें नैतिक एवं सामाजिक कहा जा सकता है । हमें किसी के नागरिक अधिकारों का हरण नहीं करना चाहिए । शोषण, दबाव, छल की नीति किसी के प्रति भी नहीं अपनाई जानी चाहिए । हर किसी को सम्मान दिया जाए और सद्व्यवहार किया जाए । अपराधी आचरण न तो स्वयं किया जाए और न दूसरों को करने दिया जाए । जहाँ अनीति बरती जा रही हो वहाँ असहयोग और विरोध तो किया ही जाए, आवश्यकता पड़ने पर संघर्ष करने और सरकारी सहायता से रोकने में

शिथिलता न की जाए। अनैतिक और असामाजिक कार्यों के विरोध में संगठित चेतना उत्पन्न की जानी चाहिए। प्रचलित अनैतिकताओं, कुरीतियों एवं मूढ़ मान्यताओं को निरस्त करने के लिए आंदोलन करते रहा जाए। ऐसे कार्यों में अपना समर्थन, सहयोग तो कदापि नहीं होना चाहिए। सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ाने वाले कार्यों को संभावित रूप से करने के लिए हर क्षेत्र में सहकारिता की प्रवृत्ति विकसित की जाए। मताधिकार का उपयोग बहुत समझ सोचकर उपयुक्त व्यक्तियों के पक्ष में ही किया जाए। ये चेतना लोकतंत्र के हर मतदाता में पैदा की जानी चाहिए। शिष्टाचार, सद्व्यवहार, मनुजता, सामूहिकता और नागरिकता की प्रवृत्तियाँ सम्य सम्राज के प्रत्येक सदस्य को अपनानी पड़ती हैं। उसे अपना चिंतन उदार और कर्तृत्व आदर्श रखना पड़ता है। हमारा स्वभाव समाजनिष्ठ होना चाहिए। व्यक्तिवाद की उपेक्षा और समूहवाद के प्रति निष्ठा रखने वाले व्यक्तियों का समाज ही समुन्नत होता है और उसके सदस्य सुखी रह सकते हैं, यह तथ्य हर किसी को हृदयंगम करना और कराना चाहिए।

परिवार, भारतीय समाज का शक्ति-स्रोत :

समाज और संस्कृति के विकास में परंपरा का अपना एक महत्त्व रहा है। लोग अपनी परंपरा को शानदार बनाए रखने के लिए बड़े से बड़ा त्याग करते हैं और इस तरह के आदर्श कुलों का जहाँ बाहुल्य होता है, वह समाज भी आदर्श और महान बन जाता है। महात्मा विदुर ने युधिष्ठिर को आदर्श कुलों का आधार बताते हुए कहा था—तप, दम, ब्रह्मज्ञान, यज्ञ, दान, शुद्ध विवाह, सम्यक् विचारों से कुल आदर्श बनते हैं। इन बातों में कहीं भी ऐसा नहीं है कि धन अथवा भौतिक ऐश्वर्य संपदाओं से कुल की मर्यादा घटती हो। धर्म के आचरण से ही परिवार उन्नत होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने परिवार की शान के लिए, उसकी समृद्धि एवं विकास के लिए, अपने जीवन में बड़े से बड़ा

काम करने की इच्छा रखता है। व्यक्ति जहाँ परिवार के भवन में धर्म आदर्श की सीढ़ियों पर ऊँचे-से-ऊँचा चढ़ता है, वहाँ ऐसे व्यक्तियों से समाज भी समुन्नत होता है और अनेक सदस्यों से युक्त परिवार का उत्थान सभी भाँति स्वच्छ, फलता-फूलता, समृद्ध और विकसित ही होता रहता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतीय परिवार व्यक्तिगत जीवन निर्माण के साथ-साथ सामाजिक जीवन की समृद्धि के लिए एक महान् प्रयोग है। हमारे देश में अनेक आक्रमणों, आघातों को सहकर भी आज जो हमारी सामाजिक, सांस्कृतिक धरोहर सुरक्षित रही है, उसके मूल में परिवार संस्था का बहुत बड़ा योगदान रहा है। परिवार भारतीय समाज का शक्तिस्त्रोत ही रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि आज के परिवर्तनों, परिस्थितियों में परिवार संस्था को पुनर्गठित करके समाज की इस जीवनदायिनी धारा को अधिक शक्तिशाली और समृद्ध बनाया जाए।

क्या किया जाए ?

बात अब व्यक्ति की नहीं है, परिवार की है। व्यक्ति से परिवार और परिवार से समाज का निर्माण होता है। परिवार ही “मिनी” (लघु) समाज है। अतः यदि आपका अपना परिवार सुखी, संस्कारवान् बन गया तो समझ लीजिए कि आपने सुखी समाज निर्माण में बहुत महत्वपूर्ण योगदान कर दिया है। गृहस्थ एक तपोवन है जिसमें संयम, सेवा और सहिष्णुता की साधना करनी पड़ेगी। चारों प्रकार के संयमों को जीवन-शैली का सहज अंग बनाइए। परिवार के लिए जो कुछ करें, उसके पीछे अहसान अथवा अहंकार न हो। केवल सेवा-भावना ही हो। परिवार के सदस्यों की कमियों एवं गलतियों को स्नेह पूर्वक सहिष्णु होकर सुधारने का प्रयास कीजिए। आपकी मधुर मुस्कान खिले फूल की भाँति पूरे परिवार को एक प्रफुल्लित उपवन बना देगी, जिसकी महक की अनुभूति आस-पास ही नहीं, दूर-दूर तक सबको होती रहेगी।

शालीनता की कसौटी-सद्भाव :

भारतीय परिवार के स्वरूप को समझते हुए यह देखा कि विश्व के किसी भी देश की तुलना में भारतीय परिवार सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि उसमें त्याग, तप एवं भावनात्मक संबंधों के साथ-साथ कर्तव्यपालन की भावना भी मिलती है । पाश्चात्य देशों के परिवारों की कुंठा, तनाव एवं मानसिक अव्यवस्था यहाँ कम ही देखने को मिलती है । समाज चूँकि परिवारों के सम्मिश्रण से निर्मित होता है अतः भारतीय समाज की उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं, प्राथमिक संबंध, सेवा, सहयोग, सम्मान, स्नेह एवं संवेदनापूर्ण व्यवहार । व्यक्ति को परिवार एवं समाज में सफल होने के लिए उन गुणों का अपने आचरण में अनिवार्यतः समावेश करना होगा, जो भारतीय परिवार तथा भारतीय समाज के लक्षण हैं । अब हम ऐसे महत्त्वपूर्ण मानवीय गुणों का अध्ययन करेंगे जिनके द्वारा आप अधिक प्रभावशाली बन सकते हैं । इनमें से प्रथम है—शालीनता । शालीनता व्यक्ति की आंतरिक जागरूकता, सुरुचि, कलात्मकता एवं सौंदर्य भावना की बाह्य अभिव्यक्ति होती है । बात एक ही है, यदि इसे शालीनता से कहा जाए, तो वह सुनने वाले के मन को गहराई तक छू सकती है, पर यदि उसमें शालीनता का अभाव हो तो श्रोता पर विपरीत प्रभाव डाल सकती है और उसमें विकर्षण उत्पन्न कर सकती है । शालीनता अथवा उसका अभाव केवल वाणी में ही नहीं, व्यवहार में, घर की व्यवस्था में, वेश-विन्यास में भी देखा जा सकता है । अत्यधिक सज-धज, फैशन, टीम-टाम, वर्ण, अवसर अथवा मौसम से अनेमल रंग वाले वस्त्राभूषण ओछेपन

का फूहड़ विज्ञापन मात्र होते हैं । ये सब केवल शालीनता के अभाव के द्योतक होते हैं । आवश्यक नहीं कि जो कुछ मँहगा, मूल्यवान हो उसी से शालीनता झलके । सस्ती-साधारण वस्तुओं का उपयोग भी शालीनता का परिचायक हो सकता है । एक परिवार के ड्राइंग रूम (बैठक) की दीवार पर टँगे माचिस की तीलियों से बने चित्र, मेज पर रखे शीशियों के ढक्कनों से बना टेबिल लैंप, लकड़ी की खाली पेटियों पर गद्दे बिछाकर झालरदार चादरों से बनाया गया दीवान और फर्श पर रंगों से बनाई गई आकर्षक अल्पना उस परिवार की गृहिणी की सुरुचि एवं शालीनता को प्रमाणित करती है । यह आवश्यक नहीं कि हजारों रुपए के मूल्य वाले मखमली सोफे, मँहगी वॉलपेंटिंग्स एवं फर्श पर बिछे कीमती कालीन वाला ड्राइंग रूम उससे अधिक आकर्षक, सुंदर एवं शालीनतापूर्ण प्रतीत हो । सत्य तो यह है कि अपव्यय और उद्धत प्रदर्शन से शालीनता का स्तर गिरता है, बढ़ता नहीं । **शालीनता की सच्ची कसौटी है—सद्भाव** । जो व्यवहार, वाणी, व्यवस्था एवं वेष-विन्यास दुर्भावों को जन्म दें एवं उन्हें भड़काए वह शालीन कदापि नहीं कहा जा सकता है । किसी सस्ती साड़ी में लिपटी लज्जालु, कर्मशीला महिला की तुलना गहरी लिपिस्टिक, तीव्र परफ्यूम एवं मँहगी जीन्स का प्रयोग करने वाली पलपल अपने बालों को झटकती हुई तथाकथित आधुनिक बाला से करिए । आपको शालीनता-अशालीनता का अंतर स्पष्ट हो जाएगा ।

शालीनता के लिए शिष्टाचार :

शालीनता के साथ-साथ समाज में शिष्टाचार भी आवश्यक होता है । आप गर्मी की दोपहरी में किसी परिचित के घर जाएँ । वह घर में नहीं है । उसकी पत्नी अंदर की खिड़की से झाँक कर उत्तर दे देती है “वह तो कहीं गए हैं” और तत्काल

खिड़की बंद कर लेती है । इसके विपरीत यदि वह अपने बेटे को पुकारकर कहती “देखो, तुम्हारे अंकल आए हैं” बेटा द्वार तक आता, आपको आग्रहपूर्वक बैठक में बिठाता है, पंखा खोलता है, एक गिलास पानी आपको देते हुए कहता है, “पापाजी तो बाहर गए हैं, आप बताएँ, मैं उनसे क्या कह दूँ ?” स्पष्ट है कि पहली स्थिति को शिष्टाचार के विपरीत कहेंगे । वस्तुतः नागरिकता, सामाजिकता, सम्यता और शालीनता का समन्वित रूप ही शिष्टाचार होता है । व्यावहारिक जीवन में शिष्टाचार के अभाव में आपको एक भी कदम बढ़ना कठिन होगा । शिष्टाचार एक ऐसी विधा है, जो अनिश्चित को भी अपना सहयोगी बना लेने में आपकी सहायता करती है । शिष्टाचार की कमी हमारी बनी बनाई बात भी बिगाड़ सकती है । यह बात स्पष्ट समझ ली जाए कि शिष्टाचार केवल बाहरी आवभगत नहीं है । शिष्टाचार की कृत्रिमता छिपाई नहीं जा सकती ।

शिष्टाचार के लक्षण :

मनुष्य को समाज में अनेक प्रकार की प्रकृति या स्वभाव वाले मनुष्यों से संसर्ग पड़ता है । कहीं उसका मतभेद होता है, कहीं भावों में संघर्ष होता है, कहीं उसे शंका होती है, कहीं उदासी, आक्षेप, प्रतिरोध या ऐसे ही अन्यान्य भावों का सामना करना पड़ता है । शिष्ट व्यक्ति ऐसे सब अवसरों पर अपने आपको संयम में रखते हुए सबके साथ संतुलित व्यवहार करता है । वह संकोचशील व्यक्तियों के साथ अधिक नम्र रहता है और मूर्खों का भी समाज में उपहास नहीं करता । वह किसी मनुष्य से बात करते समय उसके पूर्व संबंधों की स्मृति रखता है ताकि दूसरा व्यक्ति यह नहीं समझे कि वह उसे भूला हुआ है । वह ऐसे वाद-विवाद के प्रसंगों से बचता है, जो दूसरों के चित्त में खीझ उत्पन्न करे । जान-बूझकर संभाषण में अपने आपको प्रमुख आकृति नहीं बनाना चाहता और न वार्तालाप में अपनी थकावट व्यक्त करता है । उसके भाषण और वाणी में मिठास होती है और

अपनी प्रशंसा को वह अत्यंत संकोच के साथ ग्रहण करता है । जब तक कोई बाध्य न करे वह अपने विषय में मुख नहीं खोलता और किसी आक्षेप का भी अनावश्यक उत्तर नहीं देता । अपनी निंदा पर वह कान नहीं देता, न किसी से व्यर्थ झगड़ा मोल लेता है । दूसरों की नीयत पर हमला करने का दुष्कृत्य वह कभी नहीं करता बल्कि जहाँ तक बनता है, दूसरे के भावों का अच्छा अर्थ बैठाने का यत्न करता है । यदि झगड़े का कोई कारण उपस्थित हो भी जाए, वह अपने मन की नीचता कभी नहीं दिखाता ।

वह किसी बात का अनुचित लाभ नहीं उठाता और ऐसी कोई बात मुँह से नहीं निकालता जिसे प्रमाणित करने को वह तैयार न हो । वह प्रत्येक बात में दूरदर्शी और अग्रसोची होता है । वह बात-बात में अपने अपमान की कल्पना नहीं करता । अपने प्रति की गई बुराइयों को स्मरण नहीं रखता और किसी के दुर्भाव का बदला चुकाने का भाव नहीं रखता है । किसी चर्चा अथवा वाद-विवाद में दूसरे लोगों की लचर दलीलें, तीक्ष्ण व्यंग्य या अनुचित आक्षेपों से परेशान नहीं होता बल्कि मृदु हास्य के साथ उन्हें टाल देता है । अपने विचार में सही हो या गलत परंतु वह उन्हें सदा स्पष्ट रूप में रखता है और जान-बूझकर उनका मिथ्या समर्थन या जिद्द नहीं करता । वह अपने आपको लघु रूप में प्रकट करता है, पर अपनी क्षुद्रता नहीं दर्शाता । वह मानवीय दुर्बलताओं को जानता है और इस कारण उन्हें क्षमा की दृष्टि से देखता है । अपने विचारों की भिन्नता या उग्रता के कारण वह दूसरों का मजाक नहीं उड़ाता । दूसरों के विचार सिद्धांतों और मंतव्यों का वह उचित आदर करता है ।

शिष्टाचार के लिए सुझाव :

जो समाज में सम्मान-प्रतिष्ठा के आकांक्षी हैं उन्हें शिष्टाचार बरतना ही चाहिए । शिष्टाचार की आवश्यकता पग-पग पर होती है, पर यहाँ व्यवहार में प्रायः प्रयोग की जाने वाली

कुछ बातों का उल्लेख किया जा रहा है । कृपया इन्हें अपनाकर शिष्टाचार की शुरुआत करें ।

(१) सम्माननीय व्यक्ति, गुरुजन आदि मिलते हैं, हाथ जोड़कर या पैर छूकर या जैसी परिस्थिति हो उसके अनुसार आदर प्रकट करिए ।

(२) सम्माननीय व्यक्ति को अपने से अधिक सम्मानित आसन पर बैठाएँ । उनके खड़े रहने पर खुद बैठे रहना, आसन न छोड़ना, उच्चासन पर बैठना अविनय है ।

(३) सम्माननीय व्यक्ति के पास शिष्टाचार से बैठें । टाँग पसारना, बैठने में कुछ शान बघारते हुए आरामतलब बनना आदि ठीक नहीं ।

(४) सम्माननीय व्यक्तियों के सामने उनके कारण के सिवाय अपने ही कारण से किसी दूसरे आत्मीय व्यक्ति पर क्रोध प्रकट करना ठीक नहीं । ऐसा काम आवश्यक ही हो तो यथासाध्य उनके उठकर चले जाने पर करना चाहिए । उनके सामने दूसरे पर अधिकार प्रदर्शन भी यथाशक्य कम करें ।

(५) उपर्युक्त शिष्टाचार अपने घर आए हुए जनसमूह के सामने भी करना चाहिए । जब चार आदमी बैठे हों तब अपने आदमी को भी अपशब्द कहना ठीक नहीं ।

(६) अपने साथियों से भी यथासाध्य शिष्टाचार बरतें ।

(७) अपने से छोटों से शिष्टाचार का ठीक प्रत्युत्तर दें ।

(८) खास जरूरत के बिना सदा मिठास से बोलें । आज्ञा में भी यथायोग्य शब्द और स्वर की कोमलता होनी चाहिए ।

(९) रेलगाड़ी आदि में दूसरों की उचित सुविधा का ध्यान रखें ।

(१०) गुरुजनों, महिलाओं तथा जो लोग धूम्रपान नहीं

करते, उनके सामने खास कर पास से धूम्रपान मत करिए ।

(११) साधारण दृष्टि से जो काम शारीरिक श्रम का हो और वह काम यदि बड़े करते हों तो उस काम को ले लीजिए या उसमें शामिल हो जाइए ।

(१२) प्रवास में महिलाओं की सुविधा का पूरा ख्याल रखिए ।

(१३) दूसरों का नंबर मारकर आगे मत बढ़िए । यह बात टिकट लेने, पानी भरने आदि के बारे में ही है, आत्म विकास की दृष्टि से नहीं ।

(१४) साइकिल से गिर पड़ने, पैर फिसलने आदि संकट में हँसो नहीं । दुर्घटना में सहानुभूति प्रकट कर सकें तो अच्छा है अन्यथा कम-से-कम चुप जरूर रहें ।

(१५) साधारणतः अपने मुँह से अपनी तारीफ मत करें, न अपने कामों का झूठा और अतिशयोक्तिपूर्ण अविश्वसनीय वर्णन करें ।

(१६) आपसी बातचीत में जहाँ बोलने की जरूरत हो वहीं बोलिए, बीच-बीच में इस प्रकार न बोलें जिसे सुनने वाले नापसंद करते हों ।

प्रामाणिकता की आवश्यकता :

बैंक से पैसा पाने के लिए आवश्यक है कि या तो पहले से रखी हुई पूँजी खाते में हो या फिर कोई संपत्ति गिरबी रखकर उसके बदले आवश्यक राशि प्राप्त की जाए । बैंकों के पास प्रचुर धन होता है । तो भी वे बिना किसी आधार के हर माँगने वाले को उसकी इच्छित धनराशि देने के लिए तैयार नहीं होते, हों भी कैसे ? उन्हें अपनी राशि ब्याज सहित लौटानी भी तो है । जब तक वैसी संभावना सामने न आए तब तक बैंकों की उधार देने की नीति कार्यान्वित नहीं हो पाती । यह संसार भी एक बड़ा बैंक है । इसमें से प्रशंसा, प्रतिष्ठा, सहयोग, सहायता, सद्भावना

[जीवन जीने की कला भाग-३/४७]

जैसी अनेक बहुमूल्य वस्तुओं का वितरण होता है । इन्हें कोई भी अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करके प्राप्त कर सकता है । मनुष्य का अद्यावधि इतिहास उस पूँजी के समान है जो बैंक के खाते में पहले से ही जमा होती है और उसके बदले में माँगा हुआ धन सरलतापूर्वक दिया जाता है । धन संबंधी ईमानदारी और कर्तव्य संबंधी जिम्मेदारी का समन्वय किसी व्यक्ति को प्रामाणिक एवं प्रतिष्ठित बनाता है । हर व्यक्ति को अपनी योग्यता बढ़ाकर तथा कठोर श्रम करके अधिक उपार्जन, उत्पादन करना चाहिए । तभी राष्ट्रीय समृद्धि और व्यक्तिगत क्षमता का विकास होगा, किंतु जो पैसा कमाया जाए वह न्याय, नीति युक्त एवं श्रम उपार्जित होना चाहिए । बेईमानी, मिलावट, रिश्वत, मुनाफाखोरी के उपार्जन को भी चोरी, लूट, ठगी, डकैती जैसे बड़े अपराधों की कोटि में ही गिनना चाहिए । प्रामाणिक व्यक्ति ईमानदार, कर्तव्यपरायण तो होता ही है, चरित्र भी उसका निष्कलंक होना चाहिए । कार्यालयों, संस्थाओं अथवा सामाजिक कार्यों में नर-नारी की निकटता, घनिष्ठता और असाधारण सहयोग-सहकारिता सामान्य व्यक्ति की आँखों में खटकती है । इस संबंध में बहुत सतर्कता बरतने की आवश्यकता है । आपकी दृष्टि पवित्र है, मन निर्मल है, पर लोगों के मन में दूषित विचार पहले आते हैं, भले बाद में । कभी ऐसी विषम स्थिति आ जाए तो क्रोध हठवादिता करने से अथवा यह कहने भर से काम नहीं चलेगा कि हमारा मन साफ है तो हमें किसी की कोई चिंता नहीं है । ऐसी उक्तियाँ दूरदर्शितापूर्ण नहीं कही जा सकती हैं । आकांक्षाओं का ऐसा बवंडर उठेगा जिसमें आप अपना वास्तविक लक्ष्य भूल जाएँगे । जो कार्य आप प्रामाणिक बनकर सरलता से पूरा कर सकते थे, बदनामी के माहौल में असंभव-सा प्रतीत होने लगेगा । आप किस-किस का मुँह बंद करेंगे ? जो क्षमता आप अपना कार्य पूरा करने में लगाते, वह लोगों को समझाने

के असफल प्रयत्नों में लग जाएगी कि आप निर्दोष हैं, सच्चरित्र हैं । अतः ऐसी स्थिति से प्रारंभ से बचना बुद्धिमानी है । प्रामाणिकता के दर्पण पर आया हुआ बाल दूर से ही दिखाई देता है । आप धन के संबंध में, चरित्र के संबंध में तथा कर्तव्यपालन के संबंध में सावधान रहकर अपनी प्रामाणिकता बनाए रह सकते हैं ।

क्या किया जाए ?

उपेक्षा से व्यक्ति की आयु घटती है, जबकि स्नेह-सम्मान उसे दीर्घायु बनाता है । यदि आप चाहते हैं कि समाज को प्यार, प्रतिष्ठा एवं आत्मीयता प्रदान करें तो आपको प्रामाणिक बनना पड़ेगा । बेईमान, दुराचारी, अप्रामाणिक व्यक्ति को सभी घृणा की दृष्टि से देखते हैं । वह इक्कड़ बनकर अपने छोटे से परिवार तक ही सीमित रहकर नारकीय जीवन व्यतीत करता हुआ संसार से चला जाता है । उसके जीवन काल में अथवा उसके पश्चात् कोई उसकी प्रशंसा में दो शब्द कहने वाला भी नहीं होता । आप ऐसा जीवन जीना चाहेंगे ? कदापि नहीं । यदि आपकी अभिलाषा है कि आपके बच्चे व आपकी पत्नी समाज में गर्व से सिर उठाकर चलें, आप समाज, देश अथवा मानवता का महत्त्वपूर्ण कार्य करें, आपके पड़ोसियों की सद्भावनाएँ-शुभकामनाएँ आपको मिलती रहें और आपकी जीवन यात्रा की समाप्ति के उपरान्त समाज आपको याद करके अपूरणीय क्षति कहकर आपके प्रति श्रद्धावनत हो जाया करे तो प्रामाणिक बनिए । इसके अतिरिक्त और कोई विकल्प है ही नहीं । आप जो कुछ हैं, जिस विभाग अथवा व्यवसाय में लगे हैं वहीं रहकर अपनी प्रामाणिकता सिद्ध कर सकते हैं । आर्थिक एवं चारित्रिक विश्वसनीयता अर्जित करने के लिए खर्च नहीं करना होता । केवल सावधान, सतर्क एवं सहज रहने की आवश्यकता है ।

परमार्थ बुद्धि ईश्वरीय तत्त्व का प्रकाश है :

हमने जीवन में सम्मान और सफलता अर्जित करने की दृष्टि से तीन उपयोगी गुणों—शालीनता, शिष्टाचार एवं प्रामाणिकता का अध्ययन किया। मनुष्य की अंतरात्मा में ईश्वरीय तत्त्व का, सतो गुण का, जितना प्रकाश बढ़ता है, उतनी ही उसकी परमार्थ बुद्धि जागृत होती है। जो जितना स्वार्थी है, जिसकी भावनाएँ जितनी संकीर्ण हैं, दूसरों के दुःख दर्द में जिसे जितनी अरुचि है, उसे उतना ही नीच, क्षुद्र या पतित कहना होगा। पशुता का, तमोगुण का चिह्न एक ही है—केवल अपनी ही बात सोचना। यह भावना जब इतनी प्रबल हो जाती है कि दूसरों को हानि पहुँचाकर भी, अनुचित और अधर्म करके भी अपना लाभ सिद्ध किया जाता है, तो उसे असुरता कहते हैं। नर-पिशाचों की गतिविधियाँ ऐसी ही होती हैं, वे अपने छोटे लाभ के लिए दूसरों का बड़ा से बड़ा अनर्थ कर डालने में संकोच नहीं करते।

मानवता का चिह्न यह है कि दूसरों की सुख-सुविधाओं का उनके उचित अधिकारों का ध्यान रखते हुए ही अपनी सुविधा एवं उन्नति की व्यवस्था करे। नीति और सदाचारपूर्वक उन्नति करने का मार्ग मनुष्यों का है। श्रेष्ठ मानव अपने स्वार्थों की हानि सहन करके भी दूसरों की सुख-सुविधा बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। अपनी उन्नति रोककर भी दूसरों को उन्नतिशील बनाने में प्रसन्न होते हैं। दूसरों के सुख में अपना सुख और उनके दुःख समझकर जो परमार्थ में संलग्न रहते हैं, इसके लिए अपने स्वार्थ को भुला देते हैं, ऐसे त्यागी और परमार्थी व्यक्ति देवता कहे जाते हैं। जहाँ देवताओं का निवास होता है, वहाँ

स्वर्ग बन जाता है । स्वर्ग में किसी बात की कमी नहीं रहती, दुःख, दारिद्र्य भी वहाँ फटकने नहीं पाते ।

आध्यात्मिक उत्कर्ष की कसौटी-परमार्थ :

आध्यात्मिक उन्नति की परीक्षा इस कसौटी पर की जाती है कि मनुष्य का स्वार्थ कितना घटा और परमार्थ कितना बढ़ा है । भजन-पूजन यदि सच्चा हो तो उसका प्रतिफल इसी रूप में परिलक्षित होना चाहिए । तृष्णा और वासनाएँ निम्न स्तर की मनोभूमि में बड़ी-चड़ी रहती हैं । जैसे-जैसे आंतरिक स्तर बढ़ता है, वैसे-वैसे मनुष्य संयम और सेवा की बात सोचने लगता है, तब संग्रह की नहीं, त्याग की वृत्ति बढ़ती है । दूसरों से अपना स्वार्थ कैसे सधे, यह सोचने की अपेक्षा उसकी इच्छा यह होनी चाहिए कि जो कुछ अपने पास है उसका लाभ दूसरे उठा सकें, ऐसा कुछ करते रहा जाए ।

कई व्यक्ति अपने लाभ के उद्देश्य से भजन करते हैं, कामनाओं से प्रेरित होकर उनके अनुष्ठान चलते हैं, स्वर्ग और मुक्ति की, ऋद्धि और सिद्धि की प्राप्ति के मनोरंजन को पूर्ण करना ही उनकी ईश्वर भक्ति का प्रयोजन रहता है । अध्यात्म क्षेत्र का यह प्रयास निम्नतम है । इसी प्रकार बाह्य जीवन में जिन्हें अपनी सुख-सुविधाएँ बढ़ाने के लिए प्रयत्न में संलग्न देखते हैं, वे भी नीचे स्तर के ही लोग माने जाएँगे । जिस देश, समाज में लोगों का आंतरिक स्तर नीचा रहता है, वहाँ कोई महत्त्वपूर्ण प्रगति दृष्टिगोचर नहीं हो सकती । आंतरिक संतोष एवं उल्लास का आधार परमार्थ ही माना गया है जिसकी अंतरात्मा सेवा, पुण्य, परोपकार और उदारता की भावनाओं से ओत-प्रोत रहती है, वस्तुतः वही महान् है । कर्तव्य पथ पर बढ़ते रहने का जिसमें जितना साहस है, उसे उतना बड़ा बलवान् और योद्धा माना जा सकता है । पुण्य और परमार्थ के मार्ग पर चलते हुए जो कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ती हैं, उन्हें जिसने

[जीवन जीने की कला भाग-३/५१]

हँसते-हँसते बिना किसी शिकायत के सह लिया, वस्तुतः उसे ही महामानव कहा जाएगा । जहाँ ऐसे नर-रत्नों का बाहुल्य होता है, वह देश, वह जाति धन्य हो जाती है ।

परमार्थ साधना से मानवीय चेतना का विकास :

सबसे बड़ा स्वार्थ-साधन परमार्थ ही है । परमार्थ अर्थात् परम स्वार्थ । छोटे और ओछे, संकीर्ण और घृणित स्वार्थ की ही निंदा की गई है, पर जिससे अपना और सबका वास्तविक हित साधन होता है, उस स्वार्थ को, परमार्थ को निंदित नहीं प्रशंसनीय ही कहा जाएगा । आजीविका कमाना एक आवश्यक कार्य है । मनोरंजन एवं शरीर सुख का भी ध्यान रखा जाना चाहिए, पर इतने तक ही यदि सीमित रहा गया तो कहना पड़ेगा कि मनुष्य-जीवन जैसे बहुमूल्य सौभाग्य को कौड़ी मोल बर्बाद किया जा रहा है । सद्भावनाओं और सत्कर्मों के समन्वय से जो आत्मसंतोष मिलता है, आंतरिक उल्लास और आनंद का जैसा रसास्वादन मिलता है, उससे अधिकांश लोग अपरिचित ही रहते हैं । जिन बेचारों ने उस अमृत को चखा ही नहीं वे तुच्छ स्वार्थों को महत्त्व देते रहते हैं, पर जिन्होंने उच्च स्तर में प्रवेश करके उत्कृष्ट भावनाओं और श्रेष्ठ सत्कर्मों को अपने जीवन क्रम में समाविष्ट किया, उन्हीं का नर तन धारण करना सार्थक होता है ।

मानव जीवन की सार्थकता इस बात पर निर्भर है कि उनमें कितनी परमार्थी भावनाएँ भरी हुई हैं । भावनाओं की उत्कृष्टता, सजीवता और प्रौढ़ता सत्कर्मों से परखी जाती है । इसलिए सत्कर्मों को लोक और परलोक की सुख-शांति का श्रेष्ठ साधन माना गया है । सत्कर्म करते रहने से ही सद्भावनाएँ बलवती एवं परिपुष्ट होती हैं । निरंतर कार्यान्वित होते रहने पर ही वे संस्कार का रूप धारण करती हैं । संस्कारों के आधार पर ही स्वर्ग एवं पुनर्जन्म की सुखद स्थिति का निर्माण होता है और

उन्हीं के आधार पर स्वभाव बनता है। जिन स्वभाव संस्कारों को लेकर प्राणी जन्मता है, वे बहुधा वही होते हैं जो उसके पूर्व जन्म में विचार और कार्यों के समन्वय से परिपक्व किए गए थे। उसी का जीवन सफल है जो परोपकार में प्रवृत्त रहता है। परमार्थ अपने आप में जीवन की बहुत बड़ी साधना है जो मनुष्य को क्रमशः उसके लक्ष्य तक पहुँचा देती है। पाश्चात्य विद्वान विक्टर-ह्यूगो ने लिखा है—हम परोपकार के लिए जितना अपने आपको लुटाते हैं उतना ही हमारा हृदय भरता जाता है। परमार्थ साधना से मनुष्य की चेतना असाधारण रूप से विकसित हो जाती है और वह महान् बन जाता है, जिससे जीवन में अपार और अनंत आनंद का लाभ प्राप्त होता है। जो परमार्थ में लीन हैं उनके लिए संसार में कुछ भी तो दुर्लभ नहीं है।

सामाजिक सुख-शांति का आधार-परमार्थ :

परमार्थ, मानव जाति की सुरक्षा, विकास और शांति का साधन है। वही समाज सुख-शांति और विकास के पथ पर आगे बढ़ सकता है, जिसके सदस्यों में परस्पर सेवा, सहयोग का व्यवहार हो। ऐसी स्थिति में व्यक्तिगत संकीर्ण स्वार्थपरता का अस्तित्व नहीं रहता वरन् एक संयुक्त भावना का उदय होता है। इसमें किसी भी सदस्य के सुख-दुःख में दूसरे लोग भागीदार होते हैं और हाथ बँटाते हैं। कोई गिर जाता है तो दूसरे लोग उसे उठाते हैं, मदद करते हैं। परमार्थवादी समाज में कोई व्यक्ति अपनी पृथक् इकाई नहीं रख सकता वरन् वह समाज के एक शक्तिशाली अंग के रूप में काम करता है। इससे जहाँ समाज को गारंटी मिलती है, वहाँ व्यक्ति को भी सुरक्षा, सह-जीवन की गारंटी मिलती है। वह अपने जीवन को उपयोगी और अर्थपूर्ण समझने लगता है और अपने कर्तव्य, भार, उत्तरदायित्वों का भी बड़ी प्रसन्नता से निर्वाह करता है। इस तरह परमार्थवाद, व्यक्ति और समाज

[जीवन जीने की कला भाग-३/५३]

दोनों के विकास, प्रगति, सुख और शांति, सुरक्षा और सहयोग को जन्म देता है।

वह समाज जीवित नहीं रह सकता जिसके सदस्यों के बीच परस्पर सेवा, सहयोग के आधार पर परमार्थ की भावना न हो। इसके अभाव में समाज के रोगी, अपंग, असहाय, वृद्ध व्यक्तियों का निर्वाह न हो सकेगा, उन्हें असमय मरने के लिए ही मजबूर होना पड़ेगा। स्वार्थवादी व्यक्ति क्योंकि इन अरुचिकर और अलाभकारी कामों में अपने आपको लगाएगा ? बच्चों की देखभाल, उनकी सेवा, शिक्षा, योग्य बनाने का प्रयत्न अधिकांशतः व्यक्ति के अपने जीवन में उनको लाभकर नहीं होता तो फिर स्वार्थ प्रेरित व्यक्ति क्यों इसमें अपने आपको खपाएगा ? पाश्चात्य देशों में ऐसा हो भी रहा है। वहाँ संतानहीन दंपतियों का अनुपात कुछ कम नहीं है और इसी से वहाँ की जनसंख्या स्थिर सी हो गई है। जिसमें स्वार्थपरायण व्यक्ति अधिक हों, वह समाज जीवित नहीं रह सकता और न वह उन्नति और विकास की ओर अग्रसर हो सकेगा क्योंकि केवल अपने स्वार्थ को महत्त्व देने वाले व्यक्तियों में एक दूसरे के प्रति षड़यंत्र, संदेह और अविश्वास का बोलबाला रहेगा। द्वेष, वैमनस्य उनका धर्म बन जाएगा और अंततोगत्वा ऐसा समाज छिन्न-भिन्न होकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगा।

परमार्थ, आत्म-प्रेरित :

सभी समाज व्यवस्थाओं, धर्म परंपराओं में परमार्थवाद को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। इसी पर समाज का अस्तित्व एवं उसका विकास निर्भर करता है। परमार्थ के अंतर्गत मनुष्य दूसरों के कल्याण, उनके लाभ, सुख, सुविधा के लिए प्रयत्न ही नहीं करता वरन् आवश्यकता पड़ने पर अपने वैध स्वार्थों का भी स्वेच्छापूर्वक बलिदान करने को उद्यत रहता है। वह कभी किसी का बुरा नहीं करता। किसी को कोई हानि नहीं पहुँचाता।

[५४/जीवन जीने की कला भाग-३]

स्मरण रहे परमार्थ की पद्धति केवल रचनात्मक है। इसमें बुरे के प्रति भी भलाई का ही रास्ता है। प्रतिक्रिया की उसमें कोई गुंजायश नहीं है। यह साधना ज्यों-ज्यों उत्कृष्ट होती जाती है, परमार्थ का स्वरूप भी निखरता जाता है।

किसी जोर जबर्दस्ती से नहीं वरन् स्वेच्छा से प्रेरित होता है परमार्थ। किसी लाभ या उपयोगिता का हेतु रख कर किया गया परोपकार झूठा है। ऐसे परमार्थ का कोई मूल्य नहीं होता। इतना ही नहीं उसमें किसी तरह के आनंद अथवा उपयोगिता की भावना भी नहीं रखनी चाहिए क्योंकि किसी लाभ अथवा उपयोगिता के हेतु पर टिकने वाले सामाजिक संबंध जल्दी ही तब छिन्न-भिन्न होकर अनुपयोगी सिद्ध हो जाते हैं, जब उक्त हेतुओं का स्रोत टूट जाता है।

परमार्थवाद जन-जीवन की सुरक्षा, समृद्धि व विकास का मार्ग है। इससे समाज के सभी अंगों को गति मिलती है। प्रत्येक इकाई अपने आपको अकेली, निस्सहाय नहीं समझती। इस पद्धति में व्यक्ति और समुदाय दोनों का ही भला होता है। इसीलिए संत, महात्मा, महापुरुषों ने परमार्थ को मानव जीवन का आवश्यक धर्म बताया है।

परमार्थ की सार्वभौमिकता :

परोपकार में किए जाने वाले कर्म, विवेक और मौलिक निर्णायक बुद्धि से प्रेरित होने चाहिए, तभी वे सत्परिणाम पैदा करते हैं। मोह, द्वेष, अंधविश्वास या किसी आसक्ति की प्रेरणा से किए गए कार्य दूसरों को हानि ही पहुँचाते हैं। मोहासक्त माँ-बाप अपने बच्चे की अनुचित माँगें पूरी करते हैं, उनमें बुरी आदतें डाल देते हैं जो उनके लिए अहितकर होती हैं।

परमार्थ एकांगी या एकदेशीय नहीं होता, वह सार्वभौमिक होता है। किसी व्यक्ति, संस्था या समूह विशेष से ही उसका संबंध न हो। ऐसी स्थिति में मनुष्य का संबंधित तत्त्वों से तो

[जीवन जीने की कला भाग-३/५५]

परोपकार का व्यवहार होगा, किंतु इतर पदार्थों से नहीं। केवल अपने बच्चों के लिए भला चाहने वाले दूसरों के बच्चों के प्रति रूखा-बुरा व्यवहार कर सकते हैं। कई लोग अपनी जाति, दल या समुदाय में परस्पर सेवाभावी और सहयोगी बन सकते हैं, किंतु अन्य जातियों, समाज के दलों के प्रति उनका ऐसा व्यवहार नहीं होता। बड़े रूप में मनुष्य अपने देश के लिए सब कुछ लुटा सकता है, किंतु दूसरे देश पर आक्रमण कर उस पर कब्जा करने में उसे संकोच नहीं होगा। किसी संस्था का सदस्य बनकर उसके लिए मनुष्य अपने वैध हितों को भी उत्सर्ग कर सकता है, किंतु आवश्यकता पड़ने पर अन्य संस्थाओं को अपना सहयोग, सहायता देने में कंजूसी भी वह कर सकता है। परमार्थ की ये सभी पद्धतियाँ अधूरी हैं, संकुचित हैं। परमार्थजीवी का उद्देश्य सबकी सेवा, सबका भला, सबका कल्याण करना होना चाहिए। सर्वजनहिताय, जहाँ भी दूसरों के लिए आवश्यकता हो, वही परमार्थ के पथिक को चाहिए कि बिना किसी आनाकानी के अपना कर्तव्य पूर्ण करे।

अदृश्य सृष्टा ने अपने दृश्यमान् स्वरूप को मानवीय काय-कलेवर में प्रकट किया है। साथ ही उससे यह भी अपेक्षा की है कि वह इन विभूतियों को व्यर्थ ही खर्च न करे और न ही स्वार्थपरता की होली खेले। उस पर ऊँचा उठे और आस-पास के परिकर में सदाशयता का बीजारोपण करे और निरंतर खाद-पानी देता रहे। यही है परमार्थपरायणता, जिस पर टिका है यह समूचा ब्रह्मांड।

क्या किया जाए ?

परमार्थ को पारंपरिक अर्थ में मत लीजिए। इसे स्वार्थ के विलोम रूप में समझना ही व्यावहारिक दृष्टि से अधिक उपयोगी है। परमार्थ है आत्म-केंद्रित संकीर्णता से निवृत्ति, दूसरों के दुःख-पीड़ा निवारण में आनंद की अनुभूति, सेवा-परोपकार में

ईश्वर—भक्ति के समकक्ष तल्लीनता एवं समर्पण। अर्थ, काम एवं धर्म द्वारा नियंत्रित होने पर हमारे कर्म मोक्ष प्रदान करने के साधन बन जाते हैं। अतः यदि आप दैनिक मजदूरी करते हैं अथवा व्यापारी हैं तो प्रतिदिन और यदि वेतनभोगी कर्मचारी हैं तो वेतन वितरण वाले दिन आय का कुछ अंश नियमित रूप से निकाल कर अपनी पूजा-इबादत के स्थान पर रख दिया करें। इसके लिए गुल्लक, डिब्बे अथवा घड़े का उपयोग किया जा सकता है। उस धन को सत्प्रयोजन के लिए लगाएँ। बच्चों में बचाने की यह आदत डालें। इससे उनमें भी परमार्थ-परायणता की भावना विकसित होगी। परोपकार करते समय यह ध्यान अवश्य रखें कि वह धन केवल सत्पात्र को ही दें। याद रखें, यदि पाने वाले ने धन का दुरुपयोग मदिरा पान आदि व्यसन में कर दिया तो पाप के भागीदार आप ही होंगे।

बड़प्पन और महानता केवल सादगी तथा शालीनता अपनाने से ही प्राप्त होती है । यह बात अलग है कि सीधी, सरल और सज्जनता की रीति-नीति अपनाकर तत्काल ही चर्चा का विषय नहीं बना जा सकता । इसमें देर लगती है, परंतु बड़ा बनने का राजमार्ग यही है ।

-माता भगवती देवी शर्मा

आनंद प्राप्ति, आज मनुष्य का लक्ष्य :

यह सब कुछ ऐसा था जिसे जीवन के विभिन्न अवसरों, परिस्थितियों में रहते समय आपने अनुभव किया होगा। वस्तुतः जो भी कहा गया वह आज की युगीन परिस्थितियों में जीवन जीने वाले सामान्य मनुष्य की भोगी हुई हताशा, कुंठा आदि को ध्यान में रखकर ही कहा गया। एक ओर लोगों की श्रद्धाभावना का शोषण करके आडंबरों के माध्यम से परोपजीवी साधु-फकीरों की भीड़ तो दूसरी ओर जीवनलक्ष्य पहचानने की सामर्थ्य प्रदान करने में असमर्थ शिक्षा प्राप्त करके नास्तिक बनती युवा पीढ़ी। इन दो यथार्थों के बीच किस प्रकार ऐसा जीवन जिया जा सकता है जिसमें आनंद का अक्षुण्ण प्रवाह हो और जीवन गौरव गरिमा से अभिमंडित भी हो सके।

हम देखते हैं कि आज हर व्यक्ति का लक्ष्य आनंद प्राप्त करना है। दिन-रात सभी उसी के प्रयत्न में लगे रहते हैं। जो जिस स्थिति में है उसी में उसे आनंद की अनुभूति हो रही है। गाँव का रहने वाला इसलिए प्रफुल्लित है क्योंकि उसे मुक्त प्रकृति, स्वस्थ जलवायु और अनेक प्राकृतिक साधनों का भोग करने का अवसर मिलता है। शहर का निवासी भी उससे कम प्रसन्न नहीं। उसे अपनी तरह के साधन प्राप्त हैं। उसे शिक्षा, चिकित्सा, मनोरंजन, आवागमन आदि के ऐसे साधन-सुविधाएँ प्राप्त हैं जो गाँव में उपलब्ध नहीं हैं। कोई एक स्थान पर स्थायी रहकर सुखी है, किसी को चलते रहने में आनंद आता है। किसी को कृषि में आनंद है, किसी को रोजगार में। सैनिक को अपना ही जीवन प्रिय है, दुकानदार को

अपनी स्थिति। अपनी मौज की सामग्री हर कोई खोज रहा है और उसमें ही आनंद अनुभव करता रहता है। तात्पर्य यह है कि यहाँ सभी आनंद का ही जीवन जीना चाह रहे हैं। आनंद चिरस्थायी है या क्षणिक, उचित है या अनुचित, सात्त्विक है या असात्त्विक, विचारने के लिए इतना ही शेष रह जाता है।

सुख एवं आनंद में अंतर :

आज हम जिस स्वाभाविक आनंद की बातें करते हैं, वह वस्तुतः इन्द्रियजनित सुख है। वह चिरस्थायी नहीं है, वह अस्थायी और कभी-कभी तो क्षणिक होता है। उदाहरण के लिए हम काम-भावना को ही लें। मन के छः विकारों, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर्य में काम सबसे भयंकर है। वह इन सभी शत्रुओं का सेनापति है। कामसुख क्षणिक होने के साथ-साथ हमारे शरीर बल, मनोबल और प्राणशक्ति का बुरी तरह नाश करता है। स्वादिष्ट भोजन आनंददायक होता है, इसलिए सभी की यह कल्पना रहती है कि तरह-तरह की मिठाइयाँ, नमकीन, पकवान आदि प्राप्त किए जाएँ। उनसे इन्द्रियजन्य सुख मिलता भी है, किंतु इस आनंद में दोष हैं। भोग से रोग उत्पन्न होते हैं। इस कहावत के अनुसार उन सभी सुखों को, जिनसे इन्द्रियों के विषय तृप्त होते हों, वास्तविक आनंद की कोटि में नहीं रखा जा सकता है। इन्हें सुख कहना ही उचित होगा।

पूर्ण आनंद वह है जहाँ विकृति न हो। किसी तरह की आशंका, अभाव या परेशानी न उठानी पड़ती हो। स्वाभाविक जीवन में जो आनंद मिल रहा है, उसमें हमारा अभ्यास बन गया है। इसलिए वह अनुचित हो तो भी वैसा नहीं लगता। इसलिए आनंद की परख की कसौटी नियत की गई है। आनंद से शुद्धतम आनंद की प्राप्ति के लिए दृष्टिकोण परिमार्जन की आवश्यकता अनुभव की जाती है।

हम कौन हैं ? :

लौकिक आनंद सिद्धिदाता नहीं है। इससे जीवन का उद्देश्य पूरा नहीं होता है। विचार, बुद्धि, तर्क, विवेक की जो साधारण तथा असामान्य शक्तियाँ मनुष्य को प्राप्त होती हैं, वे केवल सुखों के अर्जन में ही लगी रहें तो इसमें कुछ अनोखापन नहीं। देखने वाली बात यह है कि जीवन दीपक बुझने के पूर्व क्या हमने अपने आपको पहचान लिया है कि हम कौन हैं ? इस प्रश्न का सुलझ जाना ही सबसे बड़ी बुद्धिमानी है। आत्मज्ञान आनंद का मूल है। मनुष्य इस विषय में अज्ञानी बना रहा तो लौकिक जीवन में भटकते रहना पड़ेगा। सिद्धि आत्मा की शरण में ही जाने से मिल सकती है। मनुष्य की अन्यान्य आशंकाएँ आत्मज्ञान के अभाव में दूर होना संभव नहीं हैं।

हम यह जो प्रतिदिन आनंद प्राप्ति के साधनों में परिवर्तन और प्रयोग किया करते हैं, उससे भी स्पष्ट है कि हमें थोड़े आनंद की अपेक्षा अधिक शुद्ध और पूर्ण आनंद की तलाश है। एक कपड़ा पहनते हैं, तो दूसरी बार उस कपड़े की अच्छाइयाँ बुराइयाँ ज्ञात हो जाती हैं, और दुबारा कपड़ा खरीदते समय यह ध्यान रहता है कि इस बार का कपड़ा पिछले दोषों से रहित और कुछ अधिक आकर्षक हो। पहली रुचि भी शुद्ध होती है, आनंद की भी शुद्धि होती है और हम एक ऐसा आनंद चाहते हैं, जो पूर्ण और स्थाई हो, ऐसा आनंद लौकिक जीवन में उपलब्ध नहीं है। तब फिर पारलौकिक जीवन की बात सामने आती है और आत्मा-परमात्मा पर भी ध्यान जाने लगता है। यह सिद्धि भगवान की शरण में जाने से मिल सकती है।

दृष्टिकोण में परिवर्तन आवश्यक :

फिर भी लोगों की समझ में यह बात नहीं आती है और वे लौकिक सुखों में ही आसक्त बने रहते हैं। कारण कि हमारा दृष्टिकोण जैसा बन गया है उसमें कुछ परिवर्तन नहीं करना

[६०/जीवन जीने की कला भाग-३]

चाहते। सूर्य प्रतिदिन अपने उसी क्रम में निकलता है। उसके प्रति हमारा दृष्टिकोण प्रतिदिन उगते रहने वाले सूर्य के जैसा ही होता है, किंतु यदि अपना थोड़ा दृष्टिकोण बदलें और विराट् जगत् की महान् क्रियाशील शक्ति के रूप में उस सूर्य का चिंतन करें तो वह महाप्राण अनेक विचित्रताओं से संयुक्त और जीवनदाता समझ में आएगा। दृष्टिकोण के परिवर्तन से समझने की स्थिति बदलती है और हम क्रमशः अधिक आनंद की ओर अग्रसर होने लगते हैं। दैनिक जीवन में ऐसी अनेक बातें आती हैं, जो यूँ तो सामान्य सी लगती हैं, किंतु वे अपने भीतर बहुत बड़ा अनोखापन और विज्ञान छुपाए होती है। हमारा दृष्टिकोण बोधक न होकर उथला रपट जाने वाला होता है, इसलिए महत्त्वपूर्ण वस्तुओं को छोड़ जाते हैं, और केवल उन्हीं सुखों के चिंतन में लगे रहते हैं जो स्थूल प्रयोग में आ चुके होते हैं।

दृष्टिकोण बदलता है तो सारी चीजें बदलती नजर आती हैं। जगद्गुरु शंकराचार्य ने बताया है—“यह संसार मरुभूमि है, इसमें सुख चाहते हो तो भगवान की शरण लो। आयु, श्री, यश और सांसारिक सुखों की उपलब्धि ईश्वर परायणता या आत्मचिंतन में ही है। यह दैवी संपत्ति है, पर यह बात समझ में नहीं आएगी, क्योंकि अभी तक हमने सुख और संसार के प्रति अपना रुख नहीं बदला। दृष्टिकोण बदल जाएगा तो सर्वत्र आनंद ही बिखरा दिखाई देगा।”

हम भोग से आनंद अनुभव करते हुए नहीं जानते कि इस संसार में और कुछ श्रेष्ठताएँ हैं। विचार द्वारा यदि आत्मा और परमात्मा के अस्तित्व की बात समझ में आ जाए तो भोग की अपेक्षा त्याग में ही आनंद का अनुभव करने लगेंगे और तब दिन-प्रतिदिन मूल लक्ष्य की ही ओर बढ़ते चलेंगे। फिर यह शिकायत नहीं रहेगी कि ईश्वर चिंतन में आनंद नहीं आता। दृष्टिकोण की उत्कृष्टता का सवाल है। जिस तरह संपूर्ण चेष्टाएँ

[जीवन जीने की कला भाग-३/६१]

भौतिक उन्नति में लगी हैं उसी तरह आध्यात्मिक उपलब्धियों में ही मन लग सकता है, पर पहले अपना लक्ष्य निर्धारित करना पड़ेगा, अपना हर कार्य इस दृष्टि से पूरा करना चाहिए कि हम शरीर नहीं आत्मा हैं।

आध्यात्मिक आनंद :

आध्यात्मिक आनंद, भौतिक और स्थूल आनंद की अपेक्षा सहस्र गुना अधिक है। इसलिए विज्ञान सदैव ही यह प्रेरणा देते हैं कि मनुष्य शारीरिक हितों को पूरा करने में ही न लगा रहे। मनुष्य जीवन जैसे असाधारण उपहार पर भी आंतरिक दृष्टि से कुछ विचार करें। बंधनमुक्त आनंद ही स्थाई होता है। विषयजन्य सुखों की अनुभूति तो होती है, परंतु जिसे हम उचित समझते हैं, वह व्याधिकारक होती है। आनंद की कल्पना से किया गया कर्म यदि विक्षेप उत्पन्न करे तो उस आनंद को शुद्ध और पूर्ण मनुष्योचित नहीं समझा जाएगा।

प्रश्न यह नहीं है कि हम आनंद की प्राप्ति की ओर बढ़ें। वह तो हम कर ही रहे हैं। हर घड़ी आनंद की खोज में ही हमारी जीवन यात्रा पूरी हो रही है। जो शर्त है वह यह है कि हमारा आनंद शाश्वत, निरंतर और पूर्ण किस तरह हो ? इसके लिए कुछ बड़े परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। घर गृहस्थ का परित्याग भी नहीं करना, विचित्र वेशभूषा भी नहीं बनानी, केवल इस जीवन का मूल्यांकन सच्चे दृष्टिकोण से करने की आवश्यकता है। हम शरीर के हित तो पूरे करें, किंतु शरीर में व्याप्त यह जो आत्मा है, उसे विस्मृत न करें। आत्मा हमारे अज्ञान, आसक्ति और अभावों को दूर करने में सक्षम है। यह तीन परेशानियाँ—विघ्न पैदा न करें तो जिस आनंद की तलाश में हम हैं, वह इसी जीवन क्रम से उपलब्ध हो सकता है। आत्मा के विकास से ही अबाध, शाश्वत आनंद की प्राप्ति हो सकती है।

क्या किया जाए ?

आज का समय भयंकर विभीषिकाओं से भरा हुआ है। ऐसे में अपने समय, श्रम, धन और प्रतिभा का कुछ अंश पीड़ित समाज के लिए, त्राहि-त्राहि करती मानवता के लिए लगाने में यदि हम आनंद प्राप्त कर सकें, तो जीवन धन्य हो जाएगा और आने वाली पीढ़ी हमें साधुवाद देगी। देने के सुख से बढ़कर और कौन सा सुख है ? अपने प्रिय के लिए अपना सब कुछ देकर भी आनंद की अनुभूति होती है। देवताओं से सहायता माँगने की बात तो सदा ही चलती है, पर कुछ विशेष समय ऐसे भी आते हैं, जब देवता मनुष्य से याचना करते हैं। ऐसे अवसर किन्हीं सौभाग्यवानों को ही मिलते हैं, जब वे देवताओं की मनोकामना पूरी करने में समर्थ हो सकें। दशरथ को देवताओं की सहायता के लिए जाना पड़ा था। अर्जुन भी गए थे। दधीचि ने उदारतापूर्वक उन्हें दान दिया था। कृष्ण साधु के वेश में घायल कर्ण के पास पहुँचे थे। वामन ने बलि के सामने हाथ पसारा था। राम ने शबरी से बेर की याचना की थी। सुदामा से तंदुल माँगे गए थे। अंगद और हनुमान ने देवताओं से अपनी कामनापूर्ण नहीं कराई थी, वरन् उनकी पूर्ण की थी। इस प्रसंग में ऋषियों की परंपरा याद आ जाती है। विश्वामित्र ने हरिश्चंद्र से, उद्दालक ने आरुणि से, चाणक्य ने चंद्रगुप्त से, समर्थ ने शिवाजी से, परमहंस ने विवेकानंद से, विरजानंद ने दयानंद से कुछ माँगा था और सत्पात्र शिष्यों ने जी खोलकर दिया भी था। बुद्ध और गाँधी जी की झोलियाँ आदि से अंत तक फैली ही रहीं। देने वाले घाटे में नहीं रहे। लेने वाले जितने धन्य हुए उससे अधिक श्रेय देने वाले को मिला। मांधाता ने शंकराचार्य को दिया था, उससे अधिक पाया। अंगुलिमाल और आंबपाली, हर्षवर्द्धन और अशोक, बुद्ध को देते समय उदारता की चरम सीमा पर पहुँचे थे। गाँधी के सत्याग्रहियों ने अनुदानों की अपने दाँव पर झड़ी लगा दी थी।

[जीवन जीने की कला भाग-३/६३]

देखते हैं कि जो दिया गया था वह निरर्थक नहीं गया, वरन् असंख्य गुना होकर, उन उदारमनाओं के ऊपर दैवी वरदान की तरह इस प्रकार बरसा कि वे कृतकृत्य हो गए। धनी अकेले भामाशाह ही नहीं हुए हैं। मरण अकेले भगतसिंह के हिस्से में नहीं आया है। जेल अकेले नेहरू, पटेल ही नहीं गए हैं। मुसीबतें बहुतों को आती हैं, त्यागने के लिए हर किसी को विवश होना पड़ता है। किसी से चोर छीनता है, किसी से बेटा। पेट भरने और तन ढँकने के अतिरिक्त और किसी के पल्ले कुछ नहीं पड़ता है। जब विरानों के लिए ही सब कुछ छोड़ना है तो परायों का स्तर ऊँचा क्यों न उठा लिया जाए। जब अपना उपार्जन, श्रम, सहयोग, किसी को देना ही है तो, उन्हें देवताओं, ऋषियों एवं सदुद्देश्यों के लिए ही क्यों न दिया जाए ? इस उदारनीति को अपनाने वाले बैंक में जमा की गई पूँजी की तरह ब्याज समेत लंबा लाभ पाते हैं, जबकि मोह के गर्त में धकेली हुई उपलब्धियाँ निरर्थक ही नहीं जातीं, विघातक प्रतिक्रिया भी उत्पन्न करती हैं।

इसके लिए करना और कुछ नहीं है। बात बस दृष्टिकोण बदलने भर की है। जो कुछ अपने परिवार के लिए कर रहें हैं, उसका एक अंश यदि देश और समाज के लिए लगाने लगे तो भगवान के काम में सहायक बनने का श्रेय पा सकेंगे। बस रुख बदलकर तो देखें। आप अस्थाई सुख के छोटे से दायरे से निकल कर अक्षय आनंद के साम्राज्य के अधिकारी बन जाएँगे। प्रयास कीजिए। हमारी शुभकानाएँ आपके साथ हैं।

**प्रत्येक वस्तु को अपनाने की और अपने को परिस्थितियों के अनुसार ढालने की क्षमता रखें।
उन्हीं वस्तुओं, गुणों, व्यक्तियों, संस्थाओं तथा पुस्तकों को अपनाना सीखो, जो तुम्हारे योग्य हों।**

मुद्रक : युग निर्माण प्रेस, मथुरा